याज्ञवल्क्य शिक्षा

(ब्रह्ममुनिकृत हिन्दीभाष्योपेता)



—स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक विद्यामार्तण्ड

डा० नरेश कुमार शास्त्री
17.5.92

ब्रह्ममुनि ग्रन्थमाला पुष्प ६५

यजुर्वेदीया

याज्ञवल्क्य शिक्षा

(ब्रह्ममुनिकृत हिन्दी भाष्योपेता)

हिन्दी भाष्यकार—

स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक विद्यामार्तण्ड

गुरुकुल कांगड़ी (हरिद्वार)

प्रकाशक—

श्री प्रतापसिंह ट्रस्ट

५७ एल माडल् टाऊन करनाल

पुस्तक प्राप्ति स्थान —

आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर

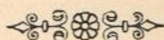
प्रथमवार
१०००

चैत्र २०२४ वि०
मार्च १९६७ ई०



मूल्य
दो रुपये

प्राक्कथन



यद्यपि यह पुस्तक साक्षात् याज्ञवल्क्य द्वारा रचित नहीं जैसे इसमें दिए "एतत् सर्वं समाख्यातं याज्ञवल्क्येन धीमता" (याज्ञवल्क्य शि० स्वरप्रकरण श्लोक १८) तथा ग्रन्थान्त में "सर्वशास्त्ररहस्यं तद् याज्ञवल्क्येन भाषितम्" (याज्ञवल्क्य शि० वर्णप्रकरण श्लोक ११६) इससे स्पष्ट है किन्तु अन्य विद्वान् के द्वारा याज्ञवल्क्य के विचारों या शिक्षावचनों का इस में बहुधा सङ्कलन हो सकता है। इस सङ्कलन में अनेक उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण विषय हैं जैसे—यजुर्वेद के मन्त्रों को तथा उदात्त आदि स्वरों को हस्तचालन से प्रदर्शित करना, उदात्त अनुदात्त स्वरित एकश्रुति स्वरों से अतिरिक्त 'जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र, प्रश्लिष्ट, तैरोव्यञ्जन, तैरोविराम, पादवृत्त, तथाभाव्य' इन आठ स्वरों का भी लक्षण और स्थान। उदात्तादि स्वरसन्धि, वर्णसन्धि, विसर्गसन्धि, वर्णोच्चारणविधि। मन्त्रपाठ में विराम आदि का विधान, संयुक्त तथा विशिष्ट वर्णों की अद्भुत उच्चारण विधि। (३), (ँ), (ँ) का नाम, स्थान और उच्चारण प्रकार। पदों और मन्त्रों के उच्चारण की विशिष्टरीति और गुण तथा वेदपाठियों के धर्माचार प्रदर्शित किए हैं जो अत्यन्त उपयोगी हैं।

स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक विद्यामार्तण्ड

प्रमुख विषयों की सूची

विषय	पृष्ठ



ओ३म्

याज्ञवल्क्य शिक्षा

अथातस्त्रैस्वर्यलक्षणं व्याख्यास्यामः ।

अब तीन स्वरों–उदात्त अनुदात्त स्वरित का लक्षण कहेंगे—

उदात्तश्चाऽनुदात्तश्च स्वरितश्च तथैव तत् ।
लक्षणं वर्णयिष्यामि दैवतं स्थानमेव च ॥ १ ॥

उदात्त, अनुदात्त और स्वरित । उसी प्रकार उस [उस, उसके] लक्षण को वर्णित करूंगा, साथ ही देवता[1] और स्थान को भी अन्य को भी कहूंगा ॥ १ ॥

शुक्लमुच्चं विजानीयान्नीचं लोहितमेव च ।
श्यामं तु स्वरितं विद्यादग्निमुच्चस्य दैवतम् ॥ २ ॥

नीचं सोमं विजानीयात् स्वरिते सविता भवेत् ।
उदात्तं ब्राह्मणं विद्यान्नीचं क्षत्रियमेव च ॥ ३ ॥

वैश्यं तु स्वरितं विद्याद् भारद्वाजमुदात्तकम् ।
नीचं गौतममित्याहु गार्ग्यं च स्वरितं विदुः ॥४॥

उच्च–उदात्त स्वर को श्वेत रंग वाला जाने, नीच–अनुदात्त को लाल रंग वाला तथा स्वरित को श्याम–कृष्ण वर्ण वाला समझे[2] । उदात्त का अग्नि देवता है, अनुदात्त में सोम को देवता

---

१ देवता एव दैवतं स्वार्थेऽण् ।

२ यहां रंगों का कोई महत्त्व नहीं तुलनामात्र है ।

जाने स्वरित में सविता देवता है[1]। उदात्त को ब्राह्मण जाने अनुदात्त को क्षत्रिय स्वरित को वैश्य समझे[2]। उदात्त भारद्वाज, अनुदात्त गौतम, स्वरित गार्ग्य को जानते हैं[3]॥ २-४॥

विद्यादुदात्ते गायत्रं नीचे त्रैष्टुभमेव च।
जागतं स्वरितं विद्यादेवमेव नियोगतः॥ ५॥

उदात्त को गायत्री छन्द, अनुदात्त को त्रिष्टुप् छन्द और स्वरित को जगती छन्द जाने[4]॥ ५॥

गान्धर्ववेदे ये प्रोक्ताः सप्त षड्जादयः स्वराः।
त एव वेदे विज्ञेयास्त्रय उदात्तादयः स्वराः॥ ६॥

गान्धर्ववेद-साम के गान में जो षड्ज आदि सात स्वर कहे हैं वे ही यहां वेद में उदात्त आदि-उदात्त अनुदात्त और स्वरित स्वर जानने चाहिएं॥ ६॥

वे इस प्रकार कि—

उच्चौ निषादगान्धारौ नीचावृषभधैवतौ।
शेषास्तु स्वरिता ज्ञेयाः षड्जमध्यमपञ्चमाः॥ ७॥

निषाद गान्धार तो उदात्तरूप हैं, ऋषभ धैवत ये दो अनुदात्तरूप हैं, शेष षड्ज, मध्यम और पञ्चम स्वरित के रूप हैं॥ ७॥

---

१ उच्चारण में देवता के बल जैसा बल देना सम्भव है।

२ वर्णों का कथन तुलनामात्र है, जैसे ब्राह्मण की विद्या पर वैश्य के धन पर आश्रित क्षत्रिय होता है ऐसे ही उदात्त और अनुदात्त पर आश्रित स्वरित होता है।

३ गोत्रदृष्टि विनोदमात्र है।

४ यह कथन तुलनारूप व्यवस्था से है।

षड्जो वेदे शिखण्ड्यास्य ऋषभः स्यादजामुखे ।
गावो रम्भन्ति गान्धारं क्रौञ्चाश्चैव तु मध्यमम् ॥ ८ ॥
कोकिलः पञ्चमं ब्रूते निषादं तु वदेद् गजः ।
अश्वश्च धैवतो ज्ञेयः स्वराः सप्तेति गीयते ॥ ९ ॥

वेद—सामवेद में जो षड्ज स्वर है वह मोर के मुख में है—मोर के मुख से उच्चरित होता है, ऋषभस्वर बकरी के मुख में है—उसके मुख से निकला है, गान्धार स्वर गौवें रम्भाती हैं, मध्यम स्वर को क्रौञ्च कुरर-सारस पक्षी बोलते हैं तथा पञ्चम स्वर को कोयल बोलती है, निषाद स्वर को हाथी ध्वनित करता है, धैवत स्वर घोडे का जानना चाहिए। ये सात स्वर हैं, ऐसा कहा जाता है ॥ ८-९ ॥

मात्राएं—

निमेषो मात्राकालः स्याद् विद्युत्कालस्तथा परे ।
अक्षरात् तुल्ययोगाच्च मतिः स्यात् सोमशर्मणः ॥ १० ॥

निमेष आँख का झपकना जितना काल–मात्राकाल है[1]। विद्युत् के चमकने जितना काल–मात्रा काल है, अक्षर-व्यञ्जन के तुल्य-योग–मेल 'कुक्कुटः' अथवा 'व्यात्तम्' दो स्वरों के मध्य में आए दो व्यञ्जनों का काल–मात्रा काल है कारण कि एक व्यञ्जन का काल अर्धमात्राकाल है यह सोमशर्मा का मत है। 'अक्षरातुल्ययोगात्' ऐसा पाठ होने पर अक्षर–स्वर अतुल्य योग 'अ, इ, उ, ऋ' ये एक मात्राकाल है, तुल्ययोग 'अ-अ'–आ, 'इ–इ'–ई, 'उ–उ'-ऊ, 'ऋ–ऋ'–ॠ, ये ऐसे न हों कारणकि ये दीर्घ–द्विमात्रा काल वाले हैं ॥ १० ॥

---

१ यह माण्डुकी शिक्षा में भी कहा है "अक्ष्णोर्निमेषमात्रे यो वर्णः समुदीर्यते । स एकमात्रो द्विस्तावान् दीर्घः ॥" (माण्डुकी० शि० १३९)।

सूर्यरश्मिप्रतीकाशात् कणिका यत्र दृश्यते ।
अणुत्वस्य तु सा मात्रा मात्रा च चतुराणवा ॥ ११ ॥

गवाक्ष—झरोखे में से सूर्य किरणों के प्रति फलित प्रकाश से कणी उडती सी जहां दिखलाई देती है, वह उतने स्वरूप या स्थान या उसकी गति की मात्रा अर्थात् परिमाण अणु है, ऐसे चार अणु परिमाणों का काल एक मात्रा-ह्रस्व काल है ॥ ११ ॥

मानसं चाणवं विद्यात् कण्ठे विद्याद् द्विराणवम् ।
त्रिराणवं तु जिह्वाग्रे निःसृतं मात्रिकं विदुः ॥ १२ ॥

बोलने के लिये मन में आया अक्षर तो अणुपरिमाणवाला होता है, कण्ठ तक पहुँचने पर दो अणु परिमाण वाला, जिह्वाग्र पर तो तीन अणु परिमाण वाला और मुख से बाहिर निकला हुआ मात्रा परिमाण वाला जानते हैं ॥ १२ ॥

अवग्रहे तु कालः स्यादर्धमात्रात्मको हि सः ।
पदयोरन्तरे काल एकमात्रा विधीयते ॥ १३ ॥

अवग्रह—समास के पद विभाग तथा क्वचित् नामवाचक शब्द यथास्वरूप से प्रत्यय होने पर दोनों यथास्वरूप नाम और प्रत्यय के विभाग में तो वह काल आधी मात्रा वाला ही है, जैसे—"सहस्रशीर्षा" (यजु० ३१ । १) 'सहस्र शीर्षेति-सहस्रऽशीर्षा ।' यहां 'सहस्र' और 'शीर्षा' के मध्य में अर्ध मात्रा आधे ह्रस्व उच्चारण जितना काल होता है, तथा "द्युमत्तमम्" (यजु० ३ । २५) 'द्युमत्तममिति-द्युमत्ऽतमम्' एवं 'तिष्ठद्भ्यः' (यजु० १६ । २३) 'तिष्ठद्भ्य इति-तिष्ठत्ऽभ्यः ।' तथा दो पदों

के अन्दर पदच्छेद में काल एक मात्रा–एक ह्रस्व काल कहा गया है, जैसे—'इषे । त्वा । ऊर्जे । त्वा ।' (यजु० १ । १) ॥१३॥

ऋचोर्धे तु द्विमात्रः स्यात् त्रिमात्रः स्यादृगन्तके ।
रिक्तं तु पाणिमुत्क्षिप्य द्वे मात्रे धारयेद् बुधः ॥ १४ ॥

मन्त्र के अर्ध भाग पर तो दो मात्राओं का काल हो, मन्त्र के अन्त में तीन मात्राओं का काल हो, रिक्त को तो दक्षिण हाथ ऊपर उठा कर दो मात्रा काल में जहां से उठाया हो वहां पर ही बुद्धिमान् जन स्थापित कर दे, चलावे नहीं, जैसे—"यऽइमा" (यजु० १७ । १७) ॥ १४ ॥

विवृत्तौ चावसाने च ऋचोऽर्द्धे च तथा परे ।
पदे च पादसंस्थाने शून्यहस्तं विधीयते ॥ १५ ॥

विवृत्ति—दो पदों के क्रमशः-अन्त और आदि में वर्तमान दो स्वरों के मध्य में विसर्ग का लोप विवृत्ति कहलाती है जैसे—'ध्रुवाः अस्मिन्' इन दो पदों के मध्य में विसर्ग है पुनः वेद में "ध्रुवाऽअस्मिन्" (यजु० १ । १) इस विवृत्ति में, मन्त्रान्त में, आधे मन्त्र तथा पर अर्थात् अन्य विराम—'अवग्रह अनुस्वार विसर्ग' में पद–पदपाठ में, पादसंस्थान पादसमाप्ति में, शून्य हस्त–स्वररहित हाथ रहे अर्थात् हस्त स्वर नहीं किया जाता है ॥ १५ ॥

एकमात्रो भवेद्ध्रस्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते ।
त्रिमात्रस्तु प्लुतो ज्ञेयो व्यञ्जनं चार्धमात्रिकम् ॥ १६ ॥

ह्रस्व एक मात्रा वाला होवे, दीर्घ दो मात्रा वाला कहा है, प्लुत तीन मात्रा वाला जानना चाहिए, व्यञ्जन अर्द्ध मात्रा वाला होता है ॥ १६ ॥

प्रणवं तु प्लुतं कुर्याद् व्याहृतीर्मात्रिका विदुः ।
चाषस्तु वदते मात्रां द्विमात्रं वायसोऽब्रवीत् ॥ १७ ॥
शिखी वदति त्रिमात्रं मात्राणामिति संस्थितिः ॥ १८ ॥
एतत् सर्वं समाख्यातं याज्ञवल्क्येन धीमता ॥ १६ ॥
वर्णो जातिश्च मात्रा च गोत्रं छन्दश्च दैवतम् ॥ २० ॥

प्रणव—ओ३म् को प्लुत करे, व्याहृतियां–'भूः, भुवः, स्वः' एक मात्रावाली जानें, चाष—नील कण्ठ पक्षी ह्रस्व स्वर बोली बोलता है, 'क'। कव्वा द्विमात्र दीर्घ स्वर बोली बोलता है, 'काऽऽव'। मोर तीन मात्रा वाली बोली बोलता है 'पियोऽऽऽव'। यह मात्राओं की सम्यक् व्यवस्था है। वर्ण, जाति, मात्रा, गोत्र, छन्द, देवता ये सब सम्यक् बुद्धिमान् याज्ञवल्क्य ने कह दिया है[1] ॥ १८ ॥

हस्तौ सुसंयतौ धार्यौ जानुनोरुपरि स्थितौ ॥ १६ ॥
गुरोरनुमतिं कुर्यात् पठन् नान्यमतिर्भवेत् ।
ऊरुभागे तृतीये तु कूर्परं न्यस्य दक्षिणम् ॥ २० ॥
सुप्रसन्नमना भूत्वा किञ्चिन्नम्रस्त्वधोमुखः ।
निवेश्य दृष्टिं हस्ताग्रे शास्त्रार्थमनुचिन्तयेत् ॥ २० ॥

---

१ पुस्तक का रचयिता याज्ञवल्क्य से भिन्न प्रतीत होता है।

दोनों हाथ सुव्यवस्थित कर दोनों घुटनों के ऊपर रख गुरु की अनुमति ले पढ़ते हुए अन्यमना न होके घुटने के ऊपर रान के मूल पर दक्षिण हाथ या भुजा की कोहनी रख कर सम्यक् प्रसन्नमन होकर कुछ नम्र-नीचे मुख किए हुए दृष्टि को हाथ के अग्र भाग पर जमा कर शास्त्र के अर्थ का चिन्तन करे ॥ १९-२१ ॥

प्रणवं प्राक् प्रयुञ्जीत व्याहृतीस्तदनन्तरम् ।
सावित्रीं चानुपूर्व्येण ततो वेदान् समारभेत् ॥ २२ ॥

प्रथम प्रणव-ओ३म् को ले पश्चात् व्याहृतियां 'भूः, भुवः' 'स्वः' पुनः सावित्री-गायत्री, ऋक्-मन्त्र 'तत्सवितु...प्रचोदयात्' (यजु० २२ । ९) बोले पुनः वेदों का सम्यक् आरम्भ करे ।।२२॥

कूर्मोऽङ्गानीव संहृत्य चेष्टां दृष्टिं दृढं मनः ।
स्वस्थः प्रशान्तो निर्भीतो वर्णानुच्चारयेद् बुधः ॥ २३ ॥

नाभ्याहन्यान्न निर्हन्यान्न गायेन्नैव कम्पयेत् ।
यथाऽऽदावुच्चरेद् वर्णांस्तथैवैनान् समापयेत् ॥ २४ ॥

कछुवा जैसे अङ्गों को सङ्कुचित करता है, ऐसे वेद का पढ़ने वाला चेष्टा को-अङ्गों की क्रिया को, दृष्टि को और दृढ़ मन को सङ्कुचित करके अर्थात् रोक कर मन दृढ़-अडिग स्थिर करके स्वस्थ प्रशान्त निर्भीक हो बुद्धिमान् जन वर्णों का उच्चारण करे। वर्णों का अभ्याघात न करे-कुछ का कुछ वर्ण न बोले, न निर्घात करे न अटक कर या स्थान करण आदि को विचलित कर के बोले, न गावे-गाने में जैसे ह्रस्व का दीर्घ और दीर्घ का ह्रस्व गा देते हैं तथा लोकप्रसिद्ध गान ध्वनि से न गावे और न

अक्षर को कम्पावे। जैसे आरम्भ में ध्वनि और गति से वर्णों का उच्चारण करे वैसे ही वर्णों को समाप्ति में बोले ॥ २४ ॥

समुच्चारयेद् वर्णान् हस्तेन च मुखेन च ।
स्वरश्चैव हस्तश्च द्वावेतौ युगपत्स्थितौ ॥ २५ ॥

मन्त्रगत वर्णों का हाथ से-उदात्त आदि स्वरों के अनुसार हस्तप्रक्षेप पूर्वक, तथा मुख द्वारा उदात्त आदि स्वरों का उच्चारण करते हुए मुखस्वर के समानकाल में समानस्थिति में हस्तस्वर-हस्तप्रक्षेप दोनों एक साथ हों एक स्थिति में हों ॥ २५ ॥

हस्तभ्रष्टः स्वरभ्रष्टो न वेदफलमश्नुते ।
न करालो न लम्बोष्ठो नाव्यक्तो नानुनासिकः ॥ २६ ॥
गद्गदो बद्धजिह्वश्च न वर्णान् वक्तुमर्हति ।

हस्तभ्रष्ट—मुख के स्वर से विपरीत हाथ चलाने वाला, मुख से उदात्त आदि स्वर को अन्यथा पढने वाला वेदाध्ययन के फल को प्राप्त नहीं कर सकता। न कराल-बाहिर निकले दान्तों वाला होठ कटा, न लम्बे होठों वाला, न अस्पष्ट बोलने वाला, न नाक में बोलने वाला-गुनगुनाने वाला, न गद्गद-तोतला एक अक्षर को पुनः पुनः बोलने वाला, न बद्धजिह्व वाला-हकला कर बोलने वाला-अटक अटक कर बोलने वाला वर्णों का उच्चारण कर सकता है ॥ २६ ॥

प्रकृतिर्यस्य कल्याणी दन्तोष्ठौ यस्य शोभनौ ॥ २७ ॥
प्रगल्भश्च विनीतश्च स वर्णान् वक्तुमर्हति ।

जिसकी प्रकृति–चाल ढाल–भावनाशील सुन्दर हो, जिसके दान्त और होंठ अच्छे हों–विकृत न हों–टूटे कटे न हों, प्रगल्भ–उत्साही चतुर और विनीत हो वह वर्णों को बोल सकता है ॥ २७ ॥

शङ्कितं भीतमुद्घृष्टमव्यक्तमनुनासिकम् ॥ २८ ॥
काकस्वरं मूर्ध्निगतं तथा स्थानविवर्जितम् ।
विस्वरं विरसं चैव विश्लिष्टं विषमाहतम् ॥ २९ ॥
व्याकुलं तालहीनं च पाठदोषाश्चतुर्दश ।

शङ्कित–शङ्का में सन्देह में आया सन्दिग्ध अक्षर 'ब' है या 'व' है 'प' है या 'ष' है, भीत–भय से उच्चारित–मुख के अन्दर जैसा रहा, उद्घृष्ट–दान्तों में खिसखिसाता जैसा अस्पष्ट, नाक में को बोला, काक स्वर–कण्ठ पर बहुत बल देकर बोला मूर्धा में गया जैसा 'क' को 'क़' 'ग' को 'ग़' 'ज' को 'ज़' जैसा बोलना, उर्दू फारसी अरबी ढंग का, स्थानरहित बोला हुआ दन्त्य को तालव्य, तालव्य को दन्त्य आदि बोलना । स्वररहित, रूखा कर्कश, विश्लिष्ट–संयुक्त को असंयुक्त जैसे 'शब्द' को 'शबद' 'श्रद्धा' को 'शरधा' बोलना, या विक्लिष्ट-दान्तों से पकड़ कर बोलना, विषम बोलना–ह्रस्व को दीर्घ या दीर्घ को ह्रस्व, व्याकुल–अक्षर को ऐंठ कर बोलना, ठिठरा हुआ मनुष्य जैसे बोलता है ऐसे बोलना, तालहीन–क्रम या व्यवस्था से रहित बोलना ये चौदह दोष हैं ॥ २९ ॥

संहितासारबहुलः पदसंज्ञासमाकुलः ॥ ३० ॥
क्रमसन्धिसमाकीर्णो दुस्तरो मन्त्रसागरः ।

ऋग्वेद आदि संहिता ही सार मूल तत्त्व बहुमूल्य रत्नरूप बहुत भरपूर या प्रचुर जिस में है ऐसा संहितापाठ, पद ही संज्ञार्थ-ज्ञान के हेतुभूत चेतन-प्राणी जैसों से आन्दोलित हुआ, पदपाठों से युक्त, क्रमसंधि-पदों के क्रम सन्धान पाठरूप तरङ्गों से व्याप्त यह दुस्तर-कठिनता से तरने योग्य-पार पाने योग्य मन्त्रसागर है ॥

ऋक्संहितां त्रिरभ्यस्य यजुषां वा समाहितः ॥ २१ ॥
साम्नां वा सरहस्यां वा सर्वपापैः प्रमुच्यते ।

ऋग्वेद को सरहस्य-अर्थ ज्ञानाचरणपूर्वक तीन वार संहिता पाठ पदपाठ क्रमपाठ के सहित पढ कर या यजुर्वेद की मन्त्र संहिता-अर्थ ज्ञान आचरण पूर्वक तीन वार संहिता पाठ पद पाठ क्रम पाठ के सहित पढ़ कर या साम मन्त्रों की संहिता को अर्थ ज्ञान आचरण पूर्वक तीन वार संहिता पाठ पदपाठ क्रम-पाठ से पढ़ कर मनुष्य सारे पापों से छूट जाता है ॥

संहिता नयते सूर्यं पदं च शशिनः पदम् ॥ २१ ॥
क्रमश्च नयते सूक्ष्मं यत् तत् पदमनामयम् ।

संहिता—ऋग्वेदादि संहिता पढने वाले को सूर्य पद की ओर ले जाती है, पदपाठ चन्द्रमा पद की ओर ले जाता है पढने वाले को, क्रमपाठ-पदक्रम सन्धि पाठ सूक्ष्म-अनश्वर एक-रस ब्रह्म की ओर ले जाता है। उत्तरोत्तर ज्ञान की वृद्धि होने से ॥

कालिन्दी संहिता ज्ञेया पदमुक्ता सरस्वती ॥ २३ ॥
क्रमेणावर्तिता गङ्गा शम्भोर्वाणी तु नान्यथा ।
यथा महाह्रदं प्राप्य क्षिप्तो लोष्टो विनश्यति ॥ २४ ॥
एवं सुदुश्चरितं सर्वं वेदे त्रिवृति मज्जति ।

मन्त्र संहिता—मन्त्रपाठ यमुना नदी जैसी है-जैसे यमुना का साधारण जल स्नान मात्र के लिये है, ऐसे मन्त्रपाठ साधारण फल वाला है, पदपाठ-पदों का अनुशीलन सरस्वती नदी जैसा है, सरस्वती का जल स्नान के साथ पान योग्य भी होने से, क्रमपाठ से आवर्तित संहिता तो अधिक ज्ञान वाली होने से गङ्गा के समान है जैसे गङ्गा स्नान पान के लाभ के साथ ध्यान-ईश्वरोपासना योगाभ्यास में मन को लगाती है-ऊंचे पर्वतों से चल कर समुद्र तक पहुंचती है उसके विवेचन के साथ तट पर बैठने से ध्यान लग जाने से यह गङ्गा अधिक उत्कृष्ट है एवं क्रमपाठ है। जैसे मिट्टी का ढेला फेंका हुआ बड़े जलाशय को प्राप्त कर-बड़े जलाशय में गिर कर नष्ट हो जाता है ऐसे दुश्चरित दुर्विचार-पापभाव त्रिवृत्-संहिता, पदपाठ, क्रमपाठ, वेद में डूब जाता है विनष्ट हो जाता है ॥ २४ ॥

आम्रपलाशविल्वानामपामार्गशिरीषयोः ॥ २५ ॥

वाग्यतः प्रातरुत्थाय भक्षयेद् दन्तधावनम् ।
खदिरश्च कदम्बश्च करवीरकरञ्जकौ ॥ २६ ॥

सर्वे कण्टकिनः पुण्याः क्षीरिणश्च य .स्विनः ।
तेनास्यकरणे सौक्ष्म्ये माधुर्यं चैव जायते ॥ २७ ॥

आम्र-आम, पलाश-ढाक, विल्व-बेल वृक्ष, अपामार्ग-चिरचिरा, सीरस, की दान्तन तथा खैर, कदम्ब, करवीर-कनेयर, करञ्जवा, सब कण्टकी वृक्ष बबूल आदि अच्छे हैं तथा दूध वाले वृक्ष बट, गूलर, पीपल आदि प्रशंसनीय हैं दान्तन करने में। इनकी दान्तन प्रातः उठ कर बिना बोले चावें-करें। इस से आस्य करण-मुख करण-मुख से लेकर कण्ठ तक करण

में सूक्ष्मता और मधुरता-स्वर या उच्चारण की मधुरता आ जाती है-प्राप्त होती है ॥ ३५-३७ ॥

त्रिफलां लवणाक्तां वै भक्षयेच्छिष्यकः सदा ।
क्षीणमेधाजनन्येषां स्वरवर्णकरी तथा ॥ ३८ ॥

नमक से युक्त-नमक मिला कर त्रिफला-हेड बहेडा आमले का चूर्ण वेद का छात्र सदा खावे, यह त्रिफला क्षीण हुई-नष्ट हुई मेधा को उत्पन्न करने वाली है तथा स्वर-आलाप और वर्ण-अक्षर को स्पष्ट उच्चारण करने की शक्ति देने वाली है ॥ ३८ ॥

हस्तहीनं तु योऽधीते मन्त्रं वेदविदो विदुः ।
न साधयेत् याजुषाणि भुक्तमव्यञ्जनं यथा ॥ ३९ ॥

जो वेदपाठी हस्तस्वर प्रदर्शन के बिना मन्त्र-यजुर्वेद के मन्त्र को पढ़ता है जिस मन्त्र को हस्त स्वर से पढना वेद के विद्वान् जानते हैं वह हस्त स्वरहीन पढने वाला यजुर्वेद से सिद्ध होने वाले कर्म व्यवहारों को साध नहीं सकता, जैसे शाक आदि से रहित खाए सूखे भोजन को नहीं पचा पाता ॥ ३९ ॥

ऋचो यजूंष्यपि सामानि हस्तहीनानि यः पठेत् ।
अनृचो ब्राह्मणस्तावद् यावत् स्वारं न विन्दति ॥ ४० ॥

जो वेदपाठी ऋग्वेद के मन्त्र[1] यजुर्वेद के मन्त्र साम मन्त्र हस्तस्वर प्रदर्शनरहित पढता है वह अमन्त्र-अमान्त्रिक-लौकिक ब्राह्मण है-मान्त्रिक वैदिक ब्राह्मण नहीं है जब तक स्वर को प्राप्त न हो ॥ ४० ॥

---

१ ऋग्वेदीय प्रातिशाख्य में हस्तस्वर का विधान नहीं मिलता है, हो सकता है जो ऋग्वेद के मन्त्र यजुर्वेद में आए हैं उनके लिये कथन हो ।

हस्तहीनं तु योऽधीते स्वरवर्णविवर्जितम् ।
ऋग्यजुः सामभिर्दग्धो वियोनिमधि गच्छति ॥ ४१ ॥

जो वेदपाठी हस्तस्वरप्रदर्शनरहित मन्त्र को पढता है साथ में मुख स्वर उदात्त आदि के विना उच्चारण के अस्पष्ट उच्चारण पाठमात्र पढेगा वह ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद के उन विना स्वर अस्पष्ट वर्णोच्चारण किये मन्त्रों द्वारा दग्ध हुआ विपरीत योनि-मनुष्य आदि योनि से भिन्न योनि या गति को प्राप्त होता है जैसा दग्ध धान गेहूँ पुनः धान या गेहूँरूप को प्राप्त नहीं होता है ऐसे ही यह मनुष्य अपनी योनि से गिर जाता है[२] ॥ ४२ ॥

ज्ञातव्यश्च तथैवार्थो वेदानां कर्मसिद्धये ।
पठन् मन्त्रापाठात्तु पङ्के गौरिव सीदति ॥ ४२ ॥
आगमं कुरु यत्नेन कारणं हि तदात्मकम् ।

उसी प्रकार कर्म सिद्धि-कर्म फलप्राप्ति या वैदिक कर्मों की सिद्धि-पूर्ति के लिये वेदों का अर्थ जानना चाहिए, अर्थ ज्ञान के विना मात्रा-नियति विधान का अपपाठ-अन्यथा पाठ हो जाने से पढता हुआ पङ्क में गौ की भांति पाप में फंस जाता है क्लेश पाता है। अतः आगम-वेदाध्ययन षडङ्गसहित यत्न से करे। यह अर्थ ज्ञानात्मक कारण है ॥ ४२ ॥

आस्येन च शयं कुर्यात् पठन् नान्यमतिर्भवेत् ॥ ४३ ॥
न चास्यमुष्टिबन्धनी स्यान्न चास्युत्तममाचरेत् ।

---

२ यह अतिशय निन्दारूप अर्थवाद है जो लोकदृष्टि में अवाञ्छनीय है।

मुख स्वर के साथ शय-हाथ को करे-हाथ को भी वैसा चलावे, पढता हुआ अन्य मन वाला न हो और इस पढते हुए का हाथ मुट्ठी बन्धन वाला न हो और न हाथ अत्यन्त खुला रखे ॥

चुलुनौंका स्फुटो दण्डी स्वस्तिको मुष्टिकाकृतिः ॥ ४४ ॥
एते वै हस्तदोषाः स्युः परशुश्चैव सप्तमः ।

चुलु-अत्यन्त छोटी कटोरी जैसे आकार वाला हाथ नौका जैसे आकार वाला हाथ, स्फुट सर्वथा खुला हाथ, दण्डाकार हाथ, स्वस्तिकार वाला 卐 अर्थात् खुली सान्तर चौडी अंगुलियों अंगुठेसहित अर्द्ध मुट्ठी आकार वाला, मुट्ठी बना हुआ, परशु-कुठार के आकार वाला हाथ होना। ये सात दोष हाथ के हैं ॥

स्वरवर्णान् प्रयुञ्जानो हस्तेनाधीतमाचरन् ॥ ४५ ॥
ऋग्यजुःसामभिः पूतो ब्रह्मलोकमवाप्नुयात् ।

स्वर-उदात्त आदि स्वरयुक्त वर्णों को मुख से प्रयुक्त करता हुआ बोलता हुआ तथा पढे हुए पाठ को हाथ से भी प्रदर्शित करता हुआ वेदपाठी ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद के मन्त्रों द्वारा पवित्र ब्रह्म लोक को प्राप्त होता है ॥[1]

न कुर्वीत पदं दीर्घं न चात्यन्तविलम्बितम् ॥ ४६ ॥
पदस्य ग्रहमोचौ च यथा शीघ्रगतिर्हयः ।

पद का दीर्घ काल-लम्बे काल तक उच्चारण तथा अत्यन्त विलम्बन अर्थात् देर में पकड़ना न करे, किन्तु पूर्वपद का

---

१ यह अतिशयित पुण्य अर्थवाद है ।

मोक्षण-उच्चारण कर छोड देना तथा अगले पद का ग्रहण शीघ्र करे अर्थात् पूर्वपद का उच्चारण लम्बा न करे उसका मोक्ष-त्याग शीघ्र गति से करना चाहिए एवं अगले पद का ग्रहण विलम्ब से न करना चाहिए पूर्वपद के उच्चारण के अनन्तर रुके नहीं ॥

यथा वाणी तथा पाणी रिक्तं तु परिवर्जयेत् ॥ ४७ ॥
यत्र यत्र स्थिता वाणी पाणिस्तत्रैव तिष्ठति ।

यथा धनुष्याऽऽविततै शरे क्षिप्ते पुनर्गुणः ॥ ४८ ॥
स्वस्थानं प्रतिपद्यते तद्वद्धस्तगतः स्वरः ।

जैसे वाणी स्वरोच्चारण में चले वैसे ही हाथ भी स्वरप्रदर्शन में चले, रिक्त हस्त को जब कि वाणी बन्द हो तब हस्त रिक्त हो गया उसे स्वर स्थान से हटा दे निज स्थान पर छोड़ दे दो मात्रा काल तक[१] । जहां वाणी ठहरे वहां वहां हाथ भी ठहरता है-ठहरे । जैसे धनुष पर ताने हुए शर-बाण के फिंक जाने पर गुण-ज्या-धनुष की डोरी पुनः अपने स्थान पर आ जाती है उसी भांति हस्तगत स्वर-हाथ भी अपने स्थान पर आ जाता है ॥ ४७-४८ ॥

अभ्यासार्थे द्रुतां वृत्तिं प्रयोगार्थे तु मध्यमाम् ॥ ४९ ॥
शिष्याणामुपदेशार्थे कुर्याद् वृत्तिं विलम्बिताम् ।

मन्त्रों के अभ्यासार्थ-रटने के लिये द्रुत गति से पढना, पाठ प्रदर्शन अनुष्ठान के लिये मध्यम गति से पढना, और शिष्यों को पढाने के लिये विलम्बित गति से पढाना चाहिए ॥ ४९ ॥

---

२ "रिक्तं तु पाणिमुत्क्षिप्य द्विमात्रे धारयेद् बुधः" (पा० स्वर० प्र० १४)।

ऐन्द्री तु मध्यमा वृत्तिः प्राजापत्या विलम्बिता ॥ ५० ॥
अग्निमारुतयोर्वृत्तिः सर्वशास्त्रेषु निन्दिता ।

मन्त्रपाठ की मध्यमा वृत्ति इन्द्रदेवता वाली है–इन्द्र ऐश्वर्यवान् है इस वृत्ति से अनुष्ठान करने में ऐश्वर्य प्राप्त होता है जनसाधारण इसे सुनना चाहते हैं। विलम्बित वृत्ति प्रजापति-देवता वाली है प्रजा–सन्तान और शिष्य हैं उनको सिखाने में युक्त है उनके ज्ञान में वृद्धि का कारण है। अवशिष्ट द्रुता वृत्ति अग्नि वायु देवता वाली है–अग्नि और वायु के योग से महाज्वलन दावानल जैसे हानिकर होता है ऐसे द्रुता वृत्ति का सदा अवलम्बन हानिकारक है अस्पष्टाक्षर वाणी श्रोताओं को तृप्त न कर सके उनमें अश्रद्धा आ जाने का सम्भव है अतः वह सब शास्त्रों में निन्दित कही गई है ॥ ५० ॥

उदात्त आदि स्वरों के अनुसार हस्तचालन विधि—

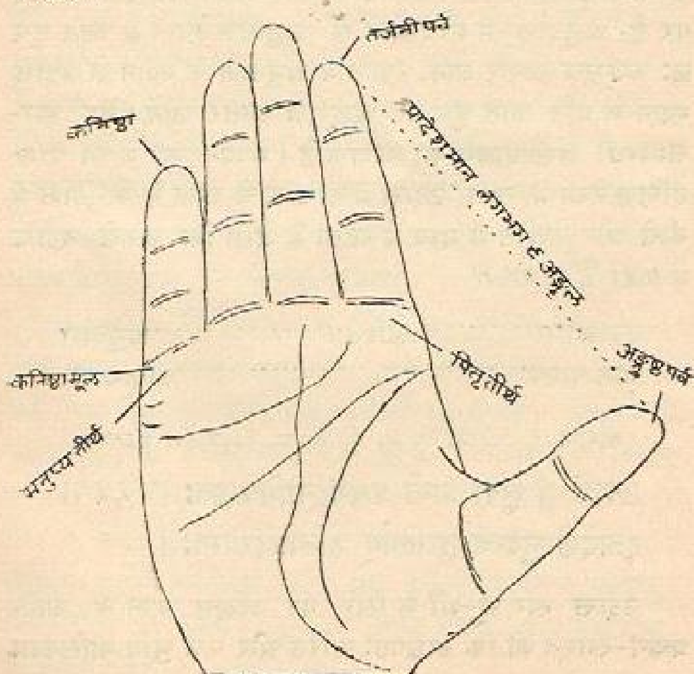
उत्तानं सोन्नतं किञ्चित् सुव्यक्ताङ्गुलिरञ्जितम् ॥ ५१ ॥
स्वरविच्च करं कुर्यात् प्रादेशोद्देशगामिनम् ।

दक्षिण हाथ उत्तान–ऊपर हथेली वाला–ऊपर तल वाला कुछ उन्नत–उठा हुआ अङ्गुलियों की ओर अन्दर को कुछ उठा हुआ–आडा हुआ सर्पफण के भीतरी आकार जैसा ऋजु अङ्गुलियों अर्थात् कठोरता या कडापन न रखती हुई अङ्गुलियों से सज्जित हाथ को प्रादेशोद्देशगामी करे स्वर को जानने वाला ॥ ५१ ॥

सो इस प्रकार—

अङ्गुष्ठस्योत्तरं पर्व तर्जन्युपरि यद् भवेत् ॥ ५२ ॥
प्रादेशस्य तु सोद्देशस्तन्मात्रं चालयेत् करम् ।
मनुष्यतीर्थोच्चं कृत्वा पितृतीर्थोदकं व्रजेत् ॥ ५३ ॥
नामितं करपृष्ठं तु सुव्यक्ताङ्गुलिमोक्षणम् ।

अङ्गूठे का ऊपरी पोरु-शिरा और तर्जनी अङ्गुली-अङ्गूठे के पास वाली प्रथम अङ्गुली का ऊपर वाला पर्व-पोरु-शिरा इन दोनों के मध्य हाथ फैलाए जो अन्तर-दूरी है वह प्रादेश का उद्देश-मान-माप है उतनी दूरी के अन्दर दक्षिण हाथ को चलावे ।



मनुष्यतीर्थ–कनिष्ठामूल ऊंचे हो पितृतीर्थ तर्जनीमूल से जल गिरे ऐसा दक्षिण की ओर झुका हुआ पृष्ठ भाग वाला हो पितृ-पृष्ठ से जल गिरे ऐसा करे तथा सुस्पष्ट–बिना भीची अङ्गुलियां ऋजु रूप में हों ऐसा हाथ करे ॥

स्वरिते त्र्यङ्गुलं विद्यान्निपाते तु षडङ्गुलम् ॥ ५४ ॥
उत्थाने तु नवाङ्गुल्यमेतत् स्वारस्य लक्षणम् ।

स्वरित में तीन अङ्गुल अन्तर जाने–उदात्त के स्थान से स्वरित का स्थान तीन अङ्गुल पर है । एवं स्वरित के स्थान से मध्य से वामपार्श्व में उदात्त का स्थान तीन अङ्गुल अन्तर पर है, अनुदात्त में मध्यस्थान से अनुदात्त स्थान में जाते हुए छः अङ्गुल अन्तर जानें, उदात्त में अनुदात्त के स्थान से उदात्त स्थान के प्रति जाते हुए नौ अङ्गुल अन्तर जानें । यह स्वर-सम्बन्धी हस्तचालन का लक्षण है । मध्यम स्वर में या वाम-दक्षिण रेखा में, तथा उदात्त में हाथ ऊंचे जाता है अनुदात्त में नीचे और स्वरित में मध्य में रहता है जैसा कि अगले श्लोक में कहा है ॥ ५४ ॥

उदात्त .... स्वरित .... अनुदात्त
वाम पार्श्व .... दक्षिण पार्श्व

अंगुल १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, नादेश प्रमाण

उदात्तं तु भ्रुवः प्रान्ते प्रचयं नासिकाग्रतः ॥ ५५ ॥
हृत्प्रदेशेऽनुदात्तं तु तिर्यग् जात्यादिरीरितः ।

उदात्त स्वर भ्रू–भौं के सिरे पर दक्षिण कान के आगे, प्रचय–स्वरित जो कि स्वरूपतः स्वरित और एक श्रुति नासिकाग्र

से, अनुदात्त तो हृदय प्रदेश पर, जात्य आदि स्वर-जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र, प्रश्लिष्ट ये चार स्वरित स्वर हाथ तिरछा करके कहा है ॥ ५५॥

उक्त ५४,५५ श्लोकों के अनुसार हस्तचालन मन्त्रों में व्यवहृत होते हैं। इस विषय में कुछ विवरण एक वेद पाठी विद्वान् का निम्न देते हैं—

"स॒हस्र॑शीर्षा॒ पुरु॑षः स॒हस्रा॒क्षः स॒हस्र॑पात्" (यजु० ३१।१) यहां 'स॒' अनुदात्त को हृदय स्थान से हस्तचालन प्रारम्भ कर 'ह' (उदात्त) को ललाट (भ्रूप्रान्त) पर 'स्र॑' (स्वरित) को मध्यभाग (नासिका सम्मुख) पर पुनः शी घटक 'श्' के उच्चारण के समय बड़ी तेजी से हाथ नीचे ले आकर 'शी' के 'ई' के उच्चारण के समय (उदात्तवत्) उपरि भाग में ले जावे तथा रेफोच्चारण के समय मध्य में लाते हुए 'र्षा॒' (अनुदात्त नीचे उच्चारण करे। पुरुषघटक (उदात्त) 'पु' के उच्चारण-समय हाथ ऊपर की ओर ले जावे तथा रेफस्थित 'रु॑' (स्वरित) के उच्चारण समय हाथ मध्य में (नासिका पर) लावे तथा एक श्रुति 'ष' के उच्चारण समय कनिष्ठिका अङ्गुलि का विमोचन करे (यह यहां तक हस्तचालन प्रकार ५५ वें श्लोक के अनुसार था) सहस्राक्ष घटक 'सह' एक श्रुति के उच्चारण के समय हाथ मध्य में रखे 'स्रा॒' (अनुदात्त) के समय दक्षिण भाग में ले जावे तथा 'क्षः' (उदात्त) के उच्चारण समय वाम भाग में लाकर तर्जनी का मोक्ष करे (यह ५४ वें श्लोक के अनुसार निम्न रेखा स्वर हुआ) तदनन्तर सहस्र घटक (अनुदात्त) 'स॒' के उच्चारण समय झटिति हृदय स्थान पर हाथ लावे तथा 'ह'

(उदात्त) के उच्चारण समय उपरि भाग (भ्रूप्रान्त) में एवं (स्वरित) 'स्वं' इसके उच्चारण करते समय मध्य स्थान में (नासिका सम्मुख) तदनन्तर 'पात्'-में से पकार के उच्चारण के समय दक्षिण भाग में हाथ लावे उसमें 'आ' (एक श्रुति) के उच्चारणपर्यन्त दक्षिण भाग में ही स्थिति रहती है 'त्' के उच्चारण के समय झटिति अङ्गुष्ठ तर्जनी की कुण्डलाकृति करे।

पं० श्री शिवदास मिश्र वेदाचार्य लब्धस्वर्णपदक वेद-प्राध्यापक राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ शक्तिनगर दिल्ली—

एक अन्य वेदपाठी विद्वान् की प्रक्रिया से
उसी मन्त्रार्ध पर—

अक्षर	स्वर	हाथ का स्थान	अन्य बात
स	अनुदात्त	हृदय प्रदेश	नीचे
ह	उदात्त	भ्रूप्रदेश	ऊपर (श्लोक ४५ के
स्रं	स्वरित	नासाग्र	मध्य अनुसार)
शी	उदात्त	भ्रूप्रान्त	ऊपर
र्षा	अनुदात्त	हृदय प्रदेश	नीचे
पु	उदात्त	भ्रूप्रान्त	ऊपर
रु	स्वरित	नासाग्र	मध्य
षः	एकश्रुति	"	" कनिष्ठिका प्रदर्शन
स	"	"	"
ह	"	"	"
स्रा	अनुदात्त	हृदय प्रदेश दक्षिण पार्श्व नीचे नीचे की ओर (श्लोक ४८ के अनुसार)	
क्षः	उदात्त	वाम पार्श्व तर्जनी का प्रदर्शन	

स॒	अनुदात्त	हृदय प्रदेश	नीचे
ह	उदात्त	भ्रूमान्त	ऊपर
स्र॑	स्वरित	नासाग्र	मध्य
पा	एकश्रुति	”	”

त् कुण्डाकृति

(अंगूठे और तर्जनी की)

श्री पं० वीरसेनजी वेदश्रमी वेदसदन इन्दौर

सामान्यतः उदात्त के पश्चात् स्वरित आने पर ऊपर भ्रमान्त से हाथ चलता है और उदात्त के पश्चात् अनुदात्त आने पर हाथ दक्षिण पार्श्व से वाम की ओर चलता है। विशेषतः तो वेदपाठी सम्प्रदाय की परम्परा से जानने योग्य है।

षडङ्गुलं तु जात्यस्य हस्तस्यानुपथस्य च ।। ५६ ।।
तच्चतुर्भागमात्रं तु हस्तं तेनैव वर्तयेत् ।

छः अङ्गुल परिमाण जात्य[1] स्वर का हाथ अनुपथ–मूल स्थान से हृदय के पास हाथ चालन करके वहां से प्रत्यावृत्ति करते हुए–लौटते हुए हाथ को मार्ग का अन्तर हो और हाथ को उसका चतुर्थांशमात्र अर्थात्–हाथ को डेढ अङ्गुल पितृतीर्थ द्वार निम्न टेढा करे ॥

उदात्तादनुदात्तं तु वामाया भुव आरभेत् ।। ५७ ।।

१ जात्य आदि स्वरों का लक्षण आगे आने वाला है।

उदात्त से परे अनुदात्त होने पर उदात्त का उच्चारण वाम भ्रू से हस्तचालन आरम्भ करे। जैसे "स जा॒तो" (यजु० ३२।५) यहां सकार के उत्तर अकार उदात्त को, "तस्मा॒दश्वा॑" (यजु० ३१।८) में तकार से उत्तर अकार उदात्त को उच्चारण करते हुए हाथ वाम भ्रू के पास रखना।

उदात्तस्वरितोदात्ताः क्रमाद् दक्षिणतो न्यसेत् ।

पूर्व अनुदात्त पर हाथ को दक्षिण की ओर रख दे, जब कि उस पूर्व अनुदात्त से परे उदात्त-स्वरित-उदात्त ये तीनों इसी क्रम से हों तो, जैसे 'इ॒षे त्वा ऊ॒र्जे' यहां 'इ॒षे' का इकार अनुदात्त है, जो पूर्व है इस से परे 'षे' उदात्त और 'त्वा॑' स्वरित है, दोनों पदों 'त्वा॑' और 'ऊ॒र्जे' की सन्धि हो जाने पर "इ॒षे त्वो॒र्जे" (यजु० १।१) 'त्वा॑' का 'आ' जो स्वरित और आगे 'ऊ॒' अनुदात्त है इन दोनों का स्वरित हो गया "स्वरितवान् स्वरितः" (यजु० प्रा० ४। १३१) से त्वो॑' हो गया। पुनः वह स्वरित हो उदात्तों के मध्य में स्वरित धर्म वाला होते हुए भी अनुदात्त होगया 'निहितमुदात्तस्वरितपरम्" (यजु० प्रा० ४। १३६) वैयाकरण परिभाषा में यह सन्नतर कहलाता है "उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः।" अष्टा० १।२। ४०) परन्तु अनुदात्त होते हुए ही भी अपना पूर्व स्वरित धर्म रखता है अतः 'इ॒षे त्वो॑ र्जे' में एकार उदात्त है इस अवस्था में 'इ॒षे' के एकार पर हाथ दक्षिण भ्रू-भौं पर रख देना होगा, यहां "उदात्तस्वरितोदात्ताः क्रमशः" इस वचन में उसका ग्रहण है अन्यथा यह कथन व्यर्थ हो जावगा। दोनों उदात्तों के मध्य

में अनुदात्त ही रहेगा, शास्त्रविधान सामर्थ्य से, जो पूर्व स्वरित था ऐसा लेना चाहिए।

उच्चादुच्चतरं नास्ति नीचान्नीचतरं तथा ॥ ५८ ॥

अक्षरातुल्ययोगाच्च नीचे नोच्चगतानि च ।

उदात्त से उदात्ततर नहीं होता और अनुदात्त से अनुदात्ततर नहीं होता अतः तुल्य अक्षर अनुदात्त से नीचे अनुदात्ततर और नीच स्वर से उच्चरित नहीं होते किन्तु वे प्रचय—एक श्रुतिरूप जैसे रहते हैं उच्चारण या हस्तस्वर प्रदर्शन में हाथ वहीं मध्यस्थान में ठहर जाता है, जैसे "सुपारथिरश्वा......" (यजु० २४। ६)॥ ५८॥

स्वरितादनुदात्ता ये प्रचयांस्तान् प्रचक्षते ॥ ५६ ॥

एकस्वरानपि च तानाहुस्तत्त्वार्थचिन्तकाः ।

स्वरित से परे जो अनुदात्त है उन्हें तत्त्वार्थचिन्तक आचार्य जन प्रचय नाम से कहते हैं तथा उन्हें एक स्वर-एकश्रुति भी कहते हैं जैसे "गणानां त्वा" (यजु० २३। १६) यहां 'नां' स्वरित के परे 'त्वा' अनुदात्त था उसे एक श्रुति हुआ अनुदात्त नहीं कहा जा सकता॥ ५६॥

प्रचयो यत्र दृश्येत तत्र हन्यात् स्वरं बुधः॥ ६० ॥

प्रचय—एकश्रुति जहां दिखलाई पड़े वहां विद्वान्-स्वर-स्वरित स्वर को हाथ से वेग के साथ गिरादे, गणानां त्वा' में से 'त्वा' को वेग से गिरादे॥ ६०॥

स्वरितः केवलो यत्र मृदुं तत्र निपातयेत् ।

जहां केवल स्वरित है वहां उसे मृदु गिरावे मध्यस्थान में हाथ से, जैसे "पुरुषः पादोऽस्य (यजु० ३१ । ४) यहां 'ऽ' में अकेला स्वरित है उससे परे प्रचय-एकश्रुति नहीं किन्तु अनुदात्त है उदात्त परे होने से ॥

मुष्ट्याकृतिर्मकारे स्यान्नकारे तु नखग्रहः ॥ ६१ ॥
ककारान्ते टकारान्ते ङणे तर्जनिकां नयेत् ।
पश्चाङ्गुल्यं पकारे च तकारे कुण्डलाकृतिः ॥ ६२ ॥

मन्त्रान्त में मकार व्यञ्जन पर उसके उच्चारण पर हाथ मुट्ठी के रूप में हो जावे, जैसे "गणानां त्वा·········गर्भधम्" (यजु० २३ । १९) यहां 'धम्' के मकार पर हाथ मुट्ठी के रूप में होजावे और नकार अन्त में होने पर अङ्गुठा तर्जनी का नख स्पर्श करे। जैसे "सहस्तों···रश्मीन्" (यजु० ३४ । ४९) ककार टकार, ङकार णकार आने पर तर्जनी को अन्दर झुकादे, पकार आने पर पांचों अङ्गुलियों को मिलादे, तकार आने पर अङ्गुठा और तर्जनी को कुण्डलाकृति बनादे। उदाहरण क्रमशः—"अध्यवो···भिषक्" (यजु० १६ । ५), "संस्रव··· वाट्" (यजु० २ । १८), "दध्यङ्" (यजु० ११ । ३०-पद पाठ) "वृषण्" (यजु० २३ । ३३) "गायत्री त्रिष्टुप्" (यजु० २३ । ३३) "सह···सहस्रपात्" (यजु० ३१ । १)॥

ऊर्ध्वक्षेपाच्च योष्मा स्यादधःक्षेपाच्च या भवेत् ।
एकैकामुत्सृजेद्धीरः स्वरिते तूभयं क्षिपेत् ॥ ६३ ॥

ऊर्ध्वक्षेप—हाथ को ऊंचा फेंकना जिस में होता है अर्थात्–उदात्त से परे जो ऊष्मा–विसर्ग और अधःक्षेप–नीचे हाथ को फैंकना जिस में होता है अर्थात् अनुदात्त से परे जो विसर्ग हो सङ्कुचित अङ्गुलियां करके उनमें से एक एक अङ्गुलि को अङ्गुलियों के समूह से बाहिर निकाले अर्थात्–उदात्त से परे विसर्ग होने पर तर्जनी को बाहिर निकाले जैसे—"....पश्चाद् भूमिमथो पुरः"(यजु० ३१ । ४) यहां 'पुरः' के 'र' में 'अ' उदात्त के परे विसर्ग है, यहां तर्जनी को छोडना, अनुदात्त के परे विसर्ग होतो वहां कनिष्ठा अङ्गुलि को बाहिर निकाले, यहां अनुदात्तवत्–प्रचय–एक श्रुति भी अभीष्ट है. जैसे "त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः" (यजु० ३१ । ४) यहां 'प' के 'अ' अनुदात्त से परे विसर्ग है यहां कनिष्ठा को छोडना, तथा प्रचय–एक श्रुति से परे विसर्ग पर भी कनिष्ठा को छोडना, जैसे "सहस्रशीर्षा पुरुषः" (यजु० ३१ । १) यहां 'पुरुषः' में 'षः' षकार में 'अ' प्रचय–एक श्रुति है उस से परे विसर्ग है अतः यहां भी कनिष्ठा को छोडना और स्वरित में तो दोनों अर्थात् तर्जनी और कनिष्ठा अङ्गुलियों को अङ्गुलियों के समूह से बाहिर निकाले बछड़े के सींगो की भांति, जैसे "समिधः" (यजु० ३१ । १५) यहां धकार में 'अ' स्वरित से परे विसर्ग है अतः यहां दोनों तर्जनी और कनिष्ठा अङ्गुलियां बाहिर निकाले ॥ ६३ ॥

अङ्गुष्ठाकुञ्चनं लघावनुस्वारे त्वपार्श्वरसम् ।
दीर्घे रङ्गे च तर्जन्याः प्रसारः परिकीर्तितः ॥ ६४ ॥

अङ्गुठेका आकुञ्चन—अङ्गुठा सुकेडे-खुले अङ्गुठे को चित लेटकार तर्जनी के पीछे स्पर्श करते हुए झुकादे लघु अनुस्वार पर [जिसे कुछ पौराणिक 'ग्वङ्क' बोलते हैं] जैसे "अपाᳪरसम्" (यजु० ९ । ३), स्मरण रहे दीर्घ स्वर पर लघु अनुस्वार होगा और ह्रस्व स्वर पर दीर्घ अनुस्वार। ऐसा यहां उदाहरण दिया है। दीर्घ अनुस्वार और रङ्ग-अर्ध अनुस्वर पर तर्जनी को फलादेना-खोलदेना कहा है। दीर्घ अनुस्वार पर जैसे "गणपतिᳩहवामहे" (यजु० २३ । १९) तथा रङ्ग-अर्ध अनुस्वार जिस पर २॥ या १॥ हो जैसे "लोकाँ२॥अंकल्पयन्" (यजु० ३१ । १३) तथा 'जहि शत्रूᳩरप" (यजु० ७ । ३७) पर तर्जनी को फैलादे अङ्गुठे के साथ ही ॥ ६४ ॥

तर्जन्यङ्गुष्ठयोः स्पर्श उदात्तं प्रतिपद्यते।

नीचे तु मध्यमां कुर्याच्छेषं नीचतरं क्रमात् ॥ ६५ ॥

उदात्त स्वर [सामवेद के निषाद और गान्धार] के प्रति तर्जनी और अङ्गुठों का स्पर्श होता है, अनुदात्त के प्रति [सामवेद के ऋषभ-और धैवत] पर तो मध्यमा अङ्गुलि का स्पर्श अङ्गुठा करे, शेष-स्वरित [सामवेद के षड्ज और मध्यमा] को नीचे अङ्गुलि का स्पर्श करे अनामिका और कनिष्ठा का स्पर्श करे ॥ ६५ ॥

स्वरितं यद् भवेत् किञ्चित् सवकारोष्मकं ततः।

ह्रस्वं वा यदि वा दीर्घं निदेप उभयोरपि ॥ ६६ ॥

स्वरित जो कोई भी वकार और विसर्ग के सहित ह्रस्व या दीर्घ हो वहां दोनों तर्जनी और कनिष्ठा अङ्गुलियों का

निक्षेप अपने समूह से बाहिर निकाल देना होता है। जैसे "दे॒वो वः॑ सवि॒ता" (यजु० १।१) यहां 'वः॑' ह्रस्व स्वरित वकार और विसर्ग के सहित है तथा "अति॒ विश्वाः॑ परा॒वतः॑" (यजु० १२।८४) यहां दीर्घ स्वरित 'वाः॑' वकार और विसर्ग से सहित ॥ ६६ ॥

स्वरिते यत्र निक्षिप्ते संयोगो वापि दृश्यते ।
द्विमात्रिके क्षिपेदेकां मात्रिके तूभयं क्षिपेत् ॥ ६७ ॥

सामान्य रूप से स्वरित अर्थात् वकार सहित स्वरित विसर्ग सहित हो जाने पर जहां आगे निक्षिप्त—नीचे क्षिप्त अर्थात्—अनुदात्त होने पर वह अनुदात्त संयोग वाला दिखलाई पड़े या विना संयोग दिखलाई दे तब दो मात्रा वाले स्वरित पर तो एक अङ्गुलि कनिष्ठा को समूह से बाहिर निकाले, जैसे "वसोः॑ प॒वित्र॑मसि" (यजु० १।२) यहां विना संयोग 'सोः॑' विसर्ग सहित से परे 'प॒' विना संयोग का अनुदात्त है, तथा "स॒वि॒तुर्वः॑ प्रस॒व" (यजु० १।१२) यहां 'वः॑' विसर्ग सहित स्वरित से परे द्वितीय 'प्र॒' अनुदात्त संयोगवाला है। दो मात्रा वाले दीर्घ स्वरित पर एक अङ्गुलि कनिष्ठा को समूह से बाहिर निकाले, जैसे पूर्व 'वसोः॑ प॒वित्र॑म्' में 'सोः॑' पर. मात्रा अर्थात्—एक मात्रावाले ह्रस्व स्वरित पर दोनों अङ्गुलियां कनिष्ठा और तर्जनी समूह से बाहिर निकाले जैसे "तन्मे॒ मनः॑ शि॒वस॑ङ्कल्पमस्तु" (यजु० ३४।१) संयोग परत्व के अभाव में ॥ ६७ ॥

जात्ये च स्वरिते चैव वकारो यत्र दृश्यते ।

कर्तव्यस्तूभयोः क्षेपो वायव्या इति दर्शनम् ॥ ६८ ॥

जात्य स्वरित अर्थात् एक पद में अनुदात्त पूर्वक यकार या वकार के सहित स्वरित जात्य कहलाता है [देखो आगे श्लोक ७८] जहां वकार साथ दिखलाई दे वहां दोनों तर्जनी और कनिष्ठा अङ्गुलि को समूह से बाहिर निकाले जैसे "वायुव्या" (यजु० २४ । १६) यह दर्शन-उदाहरण है, वकार सहित जात्य स्वरित है "व्या' 'या' के साथ वकार भी है, ऐसे वकार सहित-अधिक वकार सहित जात्य स्वरित में दोनों अङ्गुलियां बाहिर निकालना होता है, वकाररहित जात्य स्वरित में नहीं करना, जैसे "सदस्यैः" (यजु० ७ । ४५) यहां सकार साथ है ॥ ६८ ॥

शृङ्गवद् बालवत्सस्य कुमारीकुचयुग्मवत् ।

उभक्षेपः स्वरो यत्र सविसर्ग उदाहृतः ॥ ६६ ॥

छोटे बछड़े के छोटे दो सींगों के समान या कुमारी के दोनों स्तनों के समान अङ्गुलियों के समूह में से दो अङ्गुलियां तर्जनी और कनिष्ठा को बाहिर निकाल कर स्वर होता है, दोनों सींगों तथा दोनों स्तनों के मध्य में अन्तर या अन्तराल स्थान होता है तर्जनी और कनिष्ठा को अङ्गुलियों के समूह से बाहिर निकालने से दोनों में अन्तर या अन्तराल पड़ता है तथा वह वहां करना जहां विसर्गसहित स्वरित हो, विसर्ग की जो दो बिन्दु हैं (:) वह भी अन्तर या अन्तराल का कार्य करता है, जैसे-"सुमिधः" (यजु० २१ । १५) ॥ ६६ ॥

विसर्गान्तः स्वरो ह्रस्वः स्वरितो यत्र दृश्यते ।
दीर्घस्तु सवकारश्ची तत्रोभक्षेप उच्यते ॥ ७० ॥

जहां विसर्गान्त स्वरित स्वर सामान्य से जात्य भी ह्रस्व लघु या गुरुभूत सवकार या निर्वकार सामान्य [आगे दीर्घ में सवकार प्रतिबन्ध होने से] दिखलाई पडे तथा दीर्घ स्वरित जात्य भी हो तो सवकार हो तो वहां दोनों तर्जनी और कनिष्ठा को समूह से बाहिर निकालना होता है यह निष्कर्ष ६६–६८ श्लोकों का है ॥ ७० ॥

त्रिविधा तु भवेदुष्मा प्रचिता बलका तरा ।
स्वरिते प्रचितां विद्यान्निपाते बलकां विदुः ॥ ७१ ॥

उत्थाने तु तथा तारामेताभिस्त्रिभिरुष्मभिः
मात्रामादौ विदित्वा तु ततः क्षेपं प्रयोजयेत् ॥ ७२ ॥

तीन प्रकार की ऊष्मा (विसर्ग) होती है 'प्रचिता, बलका, तारा' स्वरित स्वर ह्रस्व में सवकार दीर्घ में भी प्रचिता को जाने। निपात अर्थात् अनुदात्त में, सवकार दीर्घ में भी बलका को आचार्य जानते हैं, उत्थान अर्थात् उदात्त स्वर में तो 'तारा' को जानते हैं। इन तीन ऊष्माओं (विसर्गों) से उन स्वरित आदि में दोनों अङ्गुलियों के क्षेप-समूह से बाहिर निकालने वाली ह्रस्व या दीर्घ मात्रा सवकार निर्वकार को जान कर क्षेप का प्रयोग कर–अङ्गुलियां बाहिर निकाले ॥ ७२ ॥

अक्षरं भजते काचित् काचिद् द्वित्वे प्रतिष्ठिता ।
समानजातिता काचित् काचिदूष्मप्रदायिनी ॥ ७३ ॥

कोई ऊष्मा (विसर्ग) अक्षर को भजती है-अक्षर के रूप को प्राप्त हो जाती है 'उ, श्, ष्, स्, र्' के रूप में परिणत हो जाती है जैसे "कुक्कुटोसि" (यजु० १ । १६) यहां 'कुक्कुटः-असि' में "अतो रोरप्लुतादप्लुते-अति उत्" (अष्टा० ६ । १ ।११३) से विसर्ग को 'उ' अक्षर होगया पुनः "आद्गुणः (अष्टा० ६ । १ । ८७) से पूर्व टकार में 'अ' से 'उ' मिलकर एकादेश 'ओ' गुण हो गया । तथा "देवो वः" (यजु० १ । १) यहां भी 'देवः' का विसर्ग "हशि च" (अष्टा० ६ । १ । ११४) से हश परे होने पर 'उ' बनकर पूर्ववत्-पूर्व अकार से मिलकर 'ओ' हो गया । "प्रजापतिश्छन्दः" (यजु० १४ । ९) यहां 'प्रजापतिः' का विसर्ग चवर्ग परे होने पर "स्तोश्चुना श्चुः" (अष्टा० ८ । ४ । ४०) से 'श्' हो गया । "अग्नेष्ट्वा" (यजु० १३ । १२) यहां 'अग्नेः' का विसर्ग ङस् प्रत्यय का होने से 'युष्मत' के 'त्वा' परे होने पर "युष्मत्तत्ततक्षुष्वन्तःपादम्" (अष्टा० ८ । ३ । १०३) से मूर्धन्य षकार हो गया "अग्नेस्तनूरसि" (यजु० १ । १५) यहां 'अग्नेः' का विसर्ग तवर्ग परे होने पर "विसर्जनीयस्य सः" (अष्टा० ८ । ३ । ३४) से 'स्' बनगया । "प्रातरग्निम्" (यजु० ३४ । ३४) यहां प्रातर् 'शब्द अवसान में प्रातः "खरवसानयोर्विसर्जनीयः" (अष्टा० ८।३।१५) पुनः अग्नि शब्द परे होने पर अवसान न होने से उस विसर्ग को रेफ 'र्' होगया । कहीं पर ऊष्मा (विसर्ग) द्वित्व-दो रूपों में जिह्वामूलीय और उपध्मानीय में प्रतिष्ठित जाता है इन के उच्चारण में दिगुणता आजाति है "ध्रुवाऽअस्मिन्" (यजु० १ । १) यहां 'वाः' का विसर्ग विवृत्ति होगया,

विवृत्ति में विसर्गजितना काल 'वा' और 'अ' के मध्य में उच्चारण में देना होगा। कोई ऊष्मा [विसर्ग] ऊष्म-भाप-मुख की भाप फूंक देनेवाली उच्चारण से बाहिर को भाप-फूंक निकालता है, अतः विसर्ग का नाम ऊष्मा है, ऊष्मा को प्रदान करने वाली अर्थात् अपने विसर्ग के रूप में रहने वाली, जैसे "आशुः शिशानो" (यजु० १७। ३३) यहां 'शुः' का विसर्ग 'शिशानो' के पर अपने ऊष्म-विसर्ग रूप को देने ऊष्म (विसर्ग) के रूप में रहने वाली है ॥ ७३ ॥

यथा बालस्य सर्पस्य निःश्वासो लघुचेतसः ।
एवमूष्मा प्रयोक्तव्या हकारपरिवर्जिता ॥ ७४ ॥

जैसे अल्पचेतना वाले बाल सर्प-बच्चासर्प-अत्यन्त न्यून आयु वाले सर्प का निःश्वास-फुंकार होता है ऐसा ऊष्मा (विसर्ग) प्रयोग करना-उच्चारण करना-बोलना चाहिये, उस में हकार उच्चारण न हो 'ह' में खुलकर फुंकार होता है[1] ॥७४॥

विवृत्तिप्रत्ययामुष्मां प्रवदन्ति मनीषिणः ।
तामेव प्रतिषेधन्ति 'आ-ई-ऊ-ए निदर्शनम् ॥ ७५ ॥

मनीषी जन ऊष्मा (विसर्ग) को विवृत्ति से प्रतीत होने वाली-विवृत्ति जैसी अल्पनिःश्वास वाली कहते हैं, अतः उसे

---

१ हकारो नैव मन्तव्य इति शास्त्रव्यवस्थितिः ।
फणिनिश्वाससदृशी विसर्गो भवति ध्रुवम् ॥ (ल० मा० शि० १८-२२)

विसर्ग को हकार नहीं मानना चाहिए सर्प के निःश्वास जैसा विसर्ग होता है ॥

हकार जैसी उच्चारण करने का प्रतिषेध करते हैं, जैसे विवृत्ति 'आ, ई, ऊ, ए' के परे विसर्ग विवृति बन जाता है, अल्पान्तर वाला विसर्ग होना चाहिये हकार जैसी नहीं। 'आ, ई, ऊ, उ' से परे विवृत्ति के वैदिक उदाहरण हैं जैसे "य ऽ-आत्मदा" (यजु० २५ । १३) "य ऽईशे" (यजु० २३ । ३) "कया त्वन्नऽऊत्या" (यजु० ३६ । ७) "पुरुषेऽएव" (यजु० ३१ । २) इन दीर्घ स्वरों के परे होने पर भी अन्तराल लम्बा नहीं होता ऐसी उष्मा (विसर्ग) भी अल्प निःश्वासवाली होता है ॥ ७५ ॥

अब स्वरसंहिता की विधि कही जाती है—

अष्टौ स्वरान् प्रवक्ष्यामि तेषामेव तु लक्षणम् ।

जात्योऽभिनिहितः क्षैप्रः प्रश्लिष्टश्च तथाऽपरः ॥७६॥

तैरोव्यञ्जनसंज्ञश्च तथा तैरोविरामकः ।

पादवृत्तो भवेत् तद्वत् तथा(भाव्य) इति स्वरः ॥ ७६ ॥

स्वरित प्रकरणान्तर्गत उसके जात्य आदि आठ भेद दर्शाते हैं कि आठ स्वरों को कहूंगा और उनके लक्षण भी, जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र, प्रश्लिष्ट तथा तैरो व्यञ्जनसंज्ञ, तैरो विराम, पादवृत्त और तथाभाव्य, ये आठ स्वर हैं ॥ ७६–७७ ॥

एकपदे नीचपूर्वः सयवो जात्य इष्यते ।

अपूर्वोऽपि परस्तद्वत् 'धान्यं सुष्वा स्वरित्यपि ॥७८॥

एकपद—समानपद में नीचपूर्व-अनुदात्तपूर्व है जिस से ऐसा अनुदात्तपूर्वक स्वरित समय-यकार या वकार के सहित

हो वह जात्य नाम का स्वर इष्ट है तथा अपूर्व-नहीं है पूर्व अनुदात्त जिसके ऐसा केवल स्वरित, उसी भांति यकार या वकार के सहित भी जात्य अभीष्ट है, जैसे "धान्यमसि" (यजु० १ । २०) यहां "धान्यम्" एक पद में यकारसहित स्वरित है जिससे पूर्व 'धा' अनुदात्त है अतः यह जात्य स्वर हुआ उसके परिज्ञान के लिये स्वरित चिह्न के स्थान में नीचे '‿' 'ω' ऐसा चिह्न दिया जाता है, तथा "सुप्वा कामधुक्षः" (यजु० १ । २) यहां उसी भांति अनुदात्त पूर्वक वकार सहित स्वरित "सुप्वा' को 'सुप्वा' जात्य स्वर हो गया ! एवं "……मेधां स्वर्देवेषु" (यजु० १८ । ६४) यहां 'स्वः' अनुदात्तपूर्वक न होने पर भी एकेला स्वरित वकार सहित जात्य स्वर हुआ ॥७८॥

ए ओ-आभ्यामुदात्ताभ्यामकारो निहतश्च यः ।
स च यत्र प्रलुप्येत तं चाभिनिहितं विदुः ॥ ७९ ॥

'ए' या 'ओ' इन उदात्त स्वरों से परे अकार-'अ' अनुदात्त प्रलुप्त हो जावे-पूर्व रूप हो जावे "एङः पदान्तादति" (अष्टा० ६ । १ । १०९) से, उसे अभिनिहित स्वर जानते हैं, जैसे 'ते अप्सरसाम्'-"तेप्सरसाम्" (यजु० २४ । ३७) यहां 'ते' में 'ए' उदात्त है इस से परे 'अप्सरसाम्' के 'अ' अनुदात्त का लोप अर्थात्-पूर्व एकार में पूर्वरूप हो गया अतः 'ते' यह अभिनिहित स्वर हुआ । एवं "वेदः-असि'-"वेदोसि" (यजु० २ । २२) यहां "वेदः' के विसर्ग को "अतो रोरप्लुतादप्लुते" (अष्टा० ६ । १ । १०६) से 'उ' हुआ पुनः दकार

के 'अ' के साथ मिलकर "आद्गुणः" (अष्टा० ६।१।८७) से 'ओ' हो गया, उस 'ओ' उदात्त से परे "असि' का 'अ' लुप्त हो गया-ओ में पूर्व रूप हो गया, अतः यह भी अभिनिहित स्वर हुआ ॥ ७८, ७९ ॥

इ-उ वर्णौ यदोदात्तावापद्येते यवौ क्वचित् ।
अनुदात्ते परे नित्यं विद्यात्-क्षैप्रस्य लक्षणम् ॥ ८० ॥

'इ या 'उ' वर्ण उदात्त जब सन्धि होने पर 'य' या 'व' क्रमशः कहीं बन जावें अनुदात्त परे होने पर तब नित्य क्षैप्र स्वर का लक्षण है, जैसे "त्रि-अम्बकम्'-त्र्यम्बकं यजामहे" (यजु० ३। ६०) यहां 'त्रि' में इकार उदात्त है, उसका 'य्' हो गया। 'अम्बकम्' का 'अ' अनुदात्त परे होने पर मिलकर यह क्षैप्र स्वर हो गया तथा 'द्रु-अन्नः'-"द्रुन्नः सर्पिरासुतिः" (यजु० ११। ७०) यहां 'द्रु' में 'उ' उदात्त है उसका 'व्' हो गया 'अन्नः' के 'अ' अनुदात्त परे होने पर वह यह क्षैप्र स्वर हुआ । ८० ॥

इकारो यत्र दृश्येत इकारेणैव संयुतः ।
उदात्तश्चानुदात्तेन प्रश्लिष्टो भवति स्वरः ॥ ८१ ॥

जहां उदात्त इकार अनुदात्त इकार के साथ संयुक्त हो जावे-मिल जावे सन्धिद्वारा एक दीर्घ बन जावे "अकः सवर्णे दीर्घः" (अष्टा० ६। १। १०१) से तथा "सिंहै सवर्णे दीर्घः" (यजु० प्राति० ४। ५१)से वह प्रश्लिष्ट स्वर स्वरित

का एक भेद कहलाता है। जैसे 'अभि–इन्धताम्'–''अभीन्धताम्'' (यजु० ११ । ६१) ॥ ८१ ॥

उदात्त पूर्वः स्वरितो व्यञ्जनेन युतो यदि ।
एष सर्वो बहुस्वारस्तैरोव्यञ्जन उच्यते ॥ ८२ ॥

उदात्त जिससे पूर्व है ऐसा स्वरित व्यञ्जन सहित यह सब पदसमूह बहुत स्वर वाला तैरो व्यञ्जन नाम का स्वरित कहलाता है, तिर–नीचे–अदानुत्त से अन्तर्हित व्यक्त होता है। जैसे ''इडे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे ज्योतेदिते सरस्वति महि विश्रुति'' (यजु० ८ । ४३) यहां मन्त्र में 'इडे' आदि पदों में उदात्त पूर्व है जैसे इडे' में 'इ' उदात्त है और 'डे' में स्वरित है यह 'ड' व्यञ्जन से युक्त है परन्तु संहिता में उदात्त परे होने पर 'तिर:' तिर:'–नीच–अनुदात्त के रूप में आजाने से तिरो व्यञ्जन–तैरो–व्यञ्जन स्वरित स्वर नाम प्रसिद्ध हो जाता है 'इडे रन्ते'' तथा यह ऐसा बहुस्वार–बहुत स्वरों वाला भी तैरो व्यञ्जन कहलाता है, जैसे इसी मन्त्र में 'ज्योते दिते' है 'ज्योते–अदिते' यहां 'ज्योते' के 'ए' स्वरित में 'अदिते' का 'अ' उदात्त मिलकर पूर्वरूप 'ए' स्वरित में मिलकर उस स्वरित को उदात्त कर देता है, मन्त्र में संहिता में ''उदात्तदानुदात्तः'' (यजु० प्राति० ४ । १३२) से 'ज्योते' के तकार के उत्तर 'ए' के उदात्त हो जोने पर उससे परे 'अदिते' के 'अ' उदात्त परे होने पर अनुदात्त हो जाने के प्रसङ्ग का अभाव हो गया जो कि 'अदिति' में दकार के परे इकार (ई) स्वरित है, उसे लक्ष्य कर ''निहितमुदात्तस्वरितपरम्'' (यजुर्वेदीय प्राति० ४।१३६)

से वह स्वरित 'तें' निघात-अनुदात्त नहीं होता। इस प्रकार यह 'ज्योते' पद अनेक स्वरों संहिता में दो उदात्तों वाला तथा 'ज्यो' उदात्त और 'ते' स्वरित और उदात्त के मिश्रण-वाला भी होता हुआ 'तैरो व्यञ्जन' स्वरित है ॥ ८२ ॥

अवग्रहात् परो यस्तु स्वरितः स्यादनन्तरः ।
तैरोविरामं तं विद्यादुदात्तो यद्यवग्रहः ॥ ८३ ॥

अवग्रह—समास आदि का विभाग या छेद में पूर्व भाग से परे अनन्तर साथ ही स्वरित हो तो उसे 'तैरोविराम' स्वरित स्वर जाने यदि उदात्त अवग्रह-उदात्तान्त पूर्व विभाग हो, जैसे "गोपतौ" (यजु० १।१) यहां अवग्रह 'गोऽपतौ' है, अवग्रह पर विराम करना होता है ह्रस्व मात्रा काल जितना "समासेऽवग्रहो ह्रस्वसमकालः" (यजु० प्राति० ५।१।) यहां अवग्रह में 'गो' उदात्त है आगे 'पतौ' में 'प' पकार में अकार स्वरित है यह स्वरित स्वर तैरोविराम कहलाता है ॥ ८३ ॥

स्वरे च स्वरिते चैव विवृत्तिर्यत्र दृश्यते ।
पादवृत्तो भवेत् स्वारः श्वित्र आदित्य दर्शनम् ॥ ८४ ॥

जहां स्वर—अकार आदि वर्ण व्याकरणभाषा में 'अच्' स्वरित परे हो और विवृत्ति-दो स्वरवर्णों के मध्य में सन्धि न होना रूप दिखलाई पडे वह स्वर पादवृत्त होता है, पाद इस से वृत्त होता है-सीमित होता है। जैसे "श्वित्र आदित्यानामुष्ट्रो" (यजु० २४। ३९) यहां 'श्वित्रः' आदित्यानामुष्ट्रो' 'श्वित्र' में 'त्र' के अकार से परे विसर्ग का लोप होगया,

उत्तर में 'आ' होने से, दोनों स्वर वर्णों के मध्य में तो विवृत्ति हुई, इस विवृत्ति में उत्तर पद "आदित्यानाम्" का आदि वर्ण स्वरित पादवृत्त स्वर हुआ ॥ ८४ ॥

उदात्ताक्षरयोर्मध्ये भवेन्नीचस्त्ववग्रहः ।
तथाभाव्यो भवेत् स्वारस्तनूनप्त्रे निदर्शनम् ॥ ८५ ॥

दो अक्षरों के मध्य में नीच–अनुदात्त हो तो वह अवग्रह तथाभाव्य–वैसा ही होने वाला 'तथाभाव्य' स्वरित स्वर होता है, जैसे "तनूनप्त्रे" (यजु० ५।५) यहां 'तनू–नप्त्र' में 'नू' से पूर्व 'त' उदात्त है और 'नू' से परे 'न' उदात्त है दोनों उदात्तों के मध्य में 'नू' अनुदात्त होगया, ऐसा यह स्वरित का पुनः अनुदात्त हुआ अवग्रह में आया 'तथाभाव्य' स्वर कहलाया कारण कि यह प्रथम अनुदात्त था "उदात्ताच्चानुदात्तं स्वरितम्" (यजु० प्रा० ४ । १३५) तथा 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः" (अष्टा० ८ । ४ । ६६) उदात्त से परे होने पर स्वरित हुआ 'तनू' फिर 'नप्त्रे' के 'न' उदात्त होने से "निहित-मुदात्तस्वरितपरम्" (यजु० प्रा० ४ । १३६) 'नू' पुनः उसी अनुदात्तरूप में आजाने से 'तथाभाव्य' स्वर नाम से प्रसिद्ध हो गया, यह स्वरित गर्भित अनुदात्त रहेगा । अतः यह तथा–भाव्य स्वरित का भेद है। ऐसा ही यजुर्वेदीय प्रातिशाख्य में भी कहा है "उदाद्यन्तो न्यवग्रहस्तथाभाव्यः" (अ० १। १२०)

अर्थात् उद्-उच्च-उदात्त आदि में और अन्त में होने पर-नीचे-अनुदात्त पर अवग्रह हो जाना तथाभाव्य स्वर है[1] ॥ ८५ ॥

माध्यन्दिनविरोधी स्यात् तथाभाव्यस्तु यः स्वरः ।
स्वरौ चैवात्र दृश्येते भिन्नोदात्तानुदात्तकौ ॥ ८६ ॥

जो तथाभाव्य स्वर है वह माध्यन्दिन शाखीय यजुर्वेद का विरोधी है, कारण कि यहां दोनों स्वर भिन्न-पृथक्-पृथक् उदात्त और अनुदात्त दीख रहे हैं "तनूनप्त्रे" (यजु० ५ । ५) माध्यान्दिनीय स्वरित नहीं है । पुनः 'तथा भाव्य' स्वरित नहीं कहा जा सकता, वस्तुतः यह कम्प स्वर है जैसा कि औज्जिहायनक माध्यन्दिनानुसारी आचार्यों ने कहा है "अवग्रहो यदा नीचउच्चयोर्मध्यतः क्वचित् । तथाभाव्यो भवेत् कम्पस्तनूनप्त्रे निदर्शनम् ॥" (वर्णरत्नप्रदीप शिक्षा ६९-७१) स्वरित स्वरों के मध्य में तथा भाव्य का पढ़ना अन्य आचार्यों के मत से है उन के मत में 'तनू' शब्द स्वरित है अतएव स्वरितों के मध्य पढ़ा है "निहितमुदात्तस्वरित परम् अनवग्रहे" (यजु० प्रा०

---

१ "अनवग्रहे" (यजु० प्रा० ४ । १३७) अवग्रह पर नीच-अनुदात्त होने का निषेध है वह परमत की दृष्टि से है माध्यन्दिनीय संहिता पाठ तो 'नू' अनुदात्त ही है तथाभाव्यनाम है, अतः माध्यन्दिनानुयायियों ने कहा भी है ।

"अवग्रहो यदा नीच उच्चयो र्मध्यतः क्वचित् ।
तथाभाव्यो भवेत् कम्पस्तनूनप्त्रे निदर्शनम् ।
यहां भी कहा है अगले श्लोक में । 'माध्यान्दिन" इति ।

४। १३६,१३७) उदात्त या स्वरित जिस से परे हो ऐसा अनुदात्त स्वरित हुआ भी अनुदात्त कर दिया जाता है। वैयाकरण परिभाषा में "उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः" (अष्टा० १।२,४०)

उदात्तान्निहितः स्वारः स्वरितात् प्रचयो भवेत् ।
उदात्तात् स्वरितात् पूर्वो नान्यमापद्यते स्वरम् ।।८७।।

उदात्त से परे निहित-अनुदात्त स्वरित हो जाता है, जैसे 'हि-स्म'—"हि ष्मा" (यजु० २। ४४), स्वरित से परे अनुदात्त तो प्रचय-एकश्रुति-उदात्तमय होजावे "स्वरितात् परमनुदात्तमुदात्तमयम्" (यजु० प्राति० ४। १३८) तथा "स्वरितात् संहितायामनुदात्तानाम्" (यजु० १।२।३९) जैसे "वायवः स्थ'-"वायवं स्थ" (यजु० १ । १) यहां 'स्थ' प्रचित है-एकश्रुति है। फिर उदात्त से स्वरित से पूर्व और कोई स्वर न होसके जो कि कहा गया है "निहितमुदात्त-स्वरितपरम्" (यजु० प्राति० ४। १३६) 'स्वाहा-सोमाय' "स्वाहा सोमाय" (यजु० १०। ५) यहां 'सोमाय' के 'सो' उदात्त के पूर्व 'स्वाहा' के 'हा' को अनुदात्त न होना चाहिए, तथा 'भूर्भुवः-स्वः' "भू र्भुवः स्वः" (यजु० ३। ३७) यहां 'स्वः' स्वरित से पूर्व 'भुवः' के 'वः' अनुदात्त न होना चाहिए। तथा "व्याज-वाजेवत वाजिनो नः-धनेषु'— "व्याजें वाजेवत वाजिनो नो धनेषु" (यजु० ९। १८) 'व्याजें के जें स्वरित से परे अनुदात्त के प्रथमएक श्रुति

अन्तिम 'नो' को 'नो' अनुदात्त 'धनेषु के 'ध' उदात्त से पूर्व न होना चाहिए । तथा 'रथौजाश्च सेनानी ग्राम-ण्यौ-"रथौंजाश्च सेनानी ग्रामण्यौ" (यजु० १५ । १५) अन्तिम 'मे' एक श्रुति को 'ण्यौ' स्वरित से पूर्व अनुदात्त न होना चाहिए । यह पूर्व पंक्ति के स्वर पर आक्षेप है ।। ८७ ।।

पदकाले यः स्वरितः संहितायां तथैव च ।

स्वरितश्चेद् भवेत् पश्चात् स एव निहितः स्वरः ।। ८८ ।।

जो स्वरित पदपाठ में है और संहिता में भी वैसा ही है अर्थात् स्वरित है उदात्त और स्वरित उस से परे न होने पर वह ऐसा और जिसके पश्चात् स्वरित है वह ऐसा स्वरित निहित-अनुदात्त होजाए जैसे 'स्वः-देवेषु"-"स्वर्देवेषु" ऐसा पाठ नहीं हो वह अनुदात्त हो जाता है "स्वर्देवेषु" (यजु० १८ । ६२) और स्वरित से परे स्वरित हो तो प्रथम स्वरित ही निहित-अनुदात्त स्वर होजाता है इस अवस्था में उदात्त परे और स्वरित परे होने का सम्भव है, कहा भी है "निहितमुदात्तस्वरितपरम्" (यजु० प्राति० ४ । १३४) यहां स्वरित परक अभीष्ट है, जैसे 'स्वाहा-स्वर्णाकः'-"स्वाहा स्वर्णाकः" (यजु० १८ । ५०) यहां स्वरित परे कहने में उदात्त परे कहना भी समझे जैसे "स्वः-द्यौः'-"स्वर्द्यौः" (यजु० ३ । ५) ।। ८८ ।।

उदात्ताभिहितः स्वार्यः स्वारोदात्तौ न तत्परौ ।
स्वरो यश्च तथाभूतो ज्ञेयः स प्रचयः सदा ॥ ८९ ॥

उदात्त से अनुदात्त स्वार्य-स्वरित कर देना चाहिए। यदि उस अनुदात्त से परे स्वरित या उदात्त न हो। और फिर यदि उस स्वरित से आगे जो अनुदात्त हो वह तथाभूत प्रचय स्वरित जैसा जानना चाहिए, उसे अनुदात्त न समझना चाहिये किन्तु वह प्रचय-एक श्रुति सदा रहेगा। जैसा कि पाणिनि ने कहा है "स्वरितात् संहितायामनुदात्तानाम्" (अष्टा० १।२।३८) एकश्रुति स्वर। तथा यजुर्वेदीय प्रातिशाख्य में भी "स्वरितात्परमुदात्तमयम्" (यजु० प्रा० ४।१३९) ॥ ८९ ॥

उच्चानुदात्तयोर्योगे स्वरितः स्वर उच्यते ।
ऐक्यं तत्प्रचयः प्रोक्तः सन्धिरेष मिथोऽद्भुतः ॥ ९० ॥

उदात्त और अनुदात्त का योग-मेल स्वरित स्वर कहा जाता है पाणिनि ने भी ऐसा ही कहा है "समाहारः स्वरितः" (अष्टा० १।२।३१) यजुर्वेदीय प्रातिशाख्य में भी यही कहा है उभयवान्स्वरितः" (यजु० प्रा० १।११०) जो उन उदात्त और अनुदात्त का ऐक्य-एकीभाव है दोनों के धर्मों की एकता है अभिन्न ध्वनि प्रचय है यह उदात्त और अनुदात्त का अभेद 'प्रचय' है यह दोनों की परस्पर अद्भुत सन्धि है ॥ ९० ॥

मात्रिकं वा द्विमात्रं वा स्वरितं यदिहाक्षरम् ।
तस्यादितोऽर्द्धमात्रा वै शेषं च परतो भवेत् ॥ ९१ ॥

एक मात्रा वाला-ह्रस्व या द्विमात्रा वाला-दीर्घ यहां जो अक्षर स्वरित है आदि से उसकी अर्द्ध मात्रा-अर्द्ध ह्रस्व जितना

उदात्त ऊंचा और शिष्ट परला भाग अनुदात्त नीचे होगा, जैसे पाणिनि ने भी कहा है—"तस्यादित उदात्तमर्द्ध ह्रस्वम्" (अष्टा० १। २। ३२) ॥ ६१ ॥

उच्चस्थाने गते हस्ते स्वरित नोपलभ्यते।
अधस्तस्तु यदा गच्छेत् स्वरितं न तदा भवेत् ॥ ६२ ॥

ऊंचे-उदात्त के स्थान में गए हाथ के भ्रूप्रान्त में स्वरित ह्रस्व स्वर नहीं हो सकता कारण कि उस उदात्त और अनुदात्त के मेल होने से ऊंचे अनुदात्त स्वर न बनेगा और नीचे--अनुदात्त के स्थान-हृदय प्रदेश में गए हाथ के स्वरित में पूर्व उदात्त स्वर है वह न बनेगा, अतः स्वरित स्वर न ऊपर भ्रूप्रान्त में न हृदय-प्रदेश में है किन्तु दोनों के मध्य नासिका स्थान हो में सकता है ॥ ६२ ॥

उक्त स्वर प्रकरणानुसार हस्तचालन के प्रदर्शनार्थ हम यहां समग्र पुरुषाध्याय (पुरुष सूक्त) यजु० अध्याय ३१ को प्रस्तुत करते हैं। उसमें कुछ सङ्केतों का विवरण देते हैं जो मन्त्रों के ऊपर दिये हैं—

(१) साधारणतया स्वर उदात्त, स्वरित, अनुदात्त क्रमशः ऊपर भ्रूप्रान्त, मध्य नासिकाग्र, नीचे हृदय प्रदेश पर चलेंगे। परन्तु उदात्त से परे अनुदात्त होने पर वाम दक्षिण दण्ड में चलेंगे तब मन्त्र पदों के ऊपर वाम के लिए 'वा' दक्षिण के लिये 'द' दिया है। दो बार एक साथ अनुदात्त आने पर प्रथम अनुदात्त को दण्ड मध्य से लेना होगा उसके लिये 'मध्य' दिया है।

(२) उदात्त के परे विसर्ग (:) पर तर्जनी अङ्गुलि समूह से बाहिर निकालना उसके लिए 'तर्ज'। अनुदात्त के परे

विसर्ग (:) पर कनिष्ठा अङ्गुलि निकालना उसके लिये 'कनि' स्वरित से परे विसर्ग (:) होने पर तर्जनी और कनिष्ठा दोनों निकालना उसके लिये 'तर्जकनि' सङ्केत दिया है।

(३) अनुदात्त के परे स्वरित जात्य होने पर उस अनुदात्त पर हाथ को उलटा कर घुमा कर स्वरित जात्य पर सीधा हाथ कर देना उसके लिए 'घुमाना' सङ्केत दिया।

(४) दीर्घ अनुस्वार ँ पर तर्जनी का प्रदर्शन करना, उसके लिये 'तर्ज' सङ्केत, ह्रस्व अनुस्वार ँ पर अङ्गुष्ठाकुञ्चन (तर्जनी के पृष्ठ पर अंगूठा मोड़ कर रखना)

(५) ओम् तथा अर्ध ऋचा के अन्त में म् पर मुष्टिकाकृति उसके लिए 'मुष्टि' 'न्' पर अङ्गुष्ठ से तर्जनी का नख ग्रह उसके लिये 'नखग्रह' और 'त्' पर अंगुठे और तर्जनी दोनों की कुण्डलाकृतिबनाना उसके लिये 'कुण्डल' सङ्केत' दिया है।

अथ यजुर्वेदीय पुरुषाध्यायः (यजु० अ० ३१)

न द वा तर्ज कुण्डल

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।

तर्जनी मुष्टि

स भूमिꣳसर्वतं स्पृत्वात्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम् ॥ १ ॥

द वा वा तर्ज वा द वा घुमा ऊपर म् पर मुष्टि

पुरुषऽएवेदꣳसर्वं यद्भूतं यच्चं भाव्यम् ।

उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ २ ॥

द वा कनि
एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः ।

द वा
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ।। ३ ।।

द वा द वा वा कनि तर्जनी कनिष्ठ
त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः ।

द वा घुमाना द वा
ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि ।। ४ ।।

द वा द वा कनिष्ठा
ततो विराडजायत विराजोऽअधि पूरुषः ।

वा द द वा वा तर्जनी
स जातोऽअत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः ।। ५ ।।

द वा कनि द वा मुष्टि
तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम् ।

घुमाकर द वा द वा
पशूँस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये ।। ६ ।।

द वा द वा कनि
तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतऽऋचः सामानि जज्ञिरे ।

द तर्जनी पृष्ठ अङ्गुष्ठ द वा द वा
छन्दाᳫँसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ।। ७ ।।

वा कनि

तस्मादश्वाऽअजायन्त ये के चौभयादतः ।

वा दोनों

गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाताऽअजावयः ॥ ८ ॥

वा द वा द वा द वा तर्जनी

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः ।

तेन देवाऽअयजन्त साध्याऽऋषयश्च ये ॥ ९ ॥

कनि नख ग्रह

यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् ।

वा वा द वा वा

मुखं किमस्यासीत् किं बाहू किमूरू पादाऽउच्येते ॥ १० ॥

मध्य घुमा कर घुमाकर वा तर्जनी

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बा राजन्यः कृतः ।

तर्जनीकनि वा तर्जनीअङ्गुष्ठ

_रू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याᳬ शूद्रोऽ यत ॥ ११ ॥

द वा द वा वा कनि

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्योऽअजायत ।

द वा

श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत ॥ १२ ॥

तर्जनी तर्जनी

नाभ्याऽआसीदुन्तरिक्षᳪ शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ।

द वा वा द वा द वा नखग्रह

पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकां २ऽअकल्पयन् ॥१३॥

द वा

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत ।

मध्य धुमाना द वा द वा तर्ज द वा द वा

वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्मऽइध्मः शरद्धविः ॥ १४ ॥

दवा द वातर्जदवा तर्ज कनि वा तर्ज

सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः ।

द वा वा दवा मुष्टि

देवा यद्यज्ञं तन्वाना ऽअबध्नन् पुरुषं पशुम् ॥ १५ ॥

द वा वा नखग्रह

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।

वा तर्जकनि द वा तर्जनी द वा तर्जनी

ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥ १६ ॥

तर्जनी कनि कनि

अद्भ्यः सम्भृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्तताग्रे ।

वा द वा द वा

तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे ॥१७॥

वा द वा कनि

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।

वा तर्जनी

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ १८ ॥

प्रजापतिश्चरति गर्भेऽ अन्तरजायमानो बहुधा विजायते ।

वा द वा द वा

तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्हतस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥ १९ ॥

वा द वा कनि

यो देवेभ्यऽ आतपति यो देवानां पुरोहितः ।

वा द वा द वा

पूर्वो यो देवेभ्यो जातो नमो रुचाय ब्राह्मये ॥ २० ॥

द वा द वा द वा नखग्रह

रुचं ब्राह्मं जनयन्तो देवाऽग्रे तदब्रुवन् ।

वा द वा

यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवाऽ असन् वशे ॥ २१ ॥

द वा द वा द वा द

श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे

द वा द वा मुष्टि

नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम् ।

इष्णन्निषाणामुं म ऽइषाण सर्वलोकं म ऽइषाण ॥ २२ ॥

इति याज्ञवल्क्य शिक्षा में स्वरप्रकरण
स्वामी ब्रह्ममुनि कृत भाषाभाष्य

वर्ण प्रकरण

स्वराः । स्पर्शान्तस्थोष्माणः । कण्ठ्यजिह्वामूलीयतालव्य-
मूर्धन्यदन्त्योष्ठ्ययमाऽनुस्वारविसर्जनीयोपध्मानीय-
नासिक्यानुनासिक्यरङ्गाः ॥ १ ॥

नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च किं वर्णा दैवतलिङ्गाः ॥ २ ॥

स्वर= 'अ' आदि ह्रस्व दीर्घ प्लुत, स्पर्श–'क' से 'म' तक पांचों वर्गों के पच्चीस वर्ण, अन्तस्थ–'य, र, ल, व' ऊष्मा–'श, ष, स, ह'। कण्ठ्य–कण्ठ से उच्चरित होने वाले, जिह्वामूलीय–जिह्वामूल से बोला जाने वाला ᳵक ᳵख, तालव्य–तालु से बोले जाने वाले, दन्त्य–दान्तों से बोले जाने, ओष्ठ्य–होठों से बोले जाने वाले, यम[1], अनुस्वार, ं विसर्जनीय– ः, उपध्मानीय–उपध्मा कर बोला जाने वाला ᳶप, ᳶफ, नासिका–नासिका से बोले जाने वाले, अनुनासिक्य–पीछे नासिका से बोले जाने वाले, रङ्ग, ᳩ, ᳪ ऐसे चिह्न वाले ह्रस्व दीर्घ विशिष्ट अनुस्वार, नाम–संज्ञावाचक शब्द आख्यात–क्रियावाचक शब्द, उपसर्ग–प्रपरा आदि चौबीस जो आख्यात और नाम के साथ एकाङ्ग हो जाते हैं,–निपात–'च, वा' आदि शब्द जो आख्यात और नाम के साथ एकाङ्ग न होकर स्वतन्त्र प्रयुक्त आख्यात और नाम से भिन्न अर्थ के वाचक' ये सब किस रूप वाले किस देवता वाले किस लिङ्ग वाले हैं यह वर्णन करते हैं ॥ १–२ ॥

---

१ 'कुं, खुं, गुं, घुं' ये साम्प्रदायिक कल्पना वाले हैं।

तत्र स्वराः शुक्ला नानादैवत्याः । स्पर्शाः कृष्णाः । अन्तस्थाः कपिलाः । ऊष्माणोऽरुणाः । यमा नीलाः । अनुस्वारः पीतः । विसर्जनीयः श्वेतः । जिह्वामूलीयो रक्तः । उपध्मानीयः पीतः । नासिक्यो हरितः । अतिनीला अनुनासिक्याः । शबलोरङ्गः ॥ ३ ॥

अर्थ स्पष्ट है, वर्णों की रङ्ग कल्पना विनोदमात्र है इन्हें मूर्तिमान् रूप दे दिया है॥

कण्ठ्या आग्नेया अकारादयः:' जिह्वामूलीया नैर्ऋत्याः ककारादयः । तालव्याः सौम्याश्चकारादयः । मूर्धन्या वायव्याष्टकारादयः । दन्त्या रौद्रास्तकारादयः ॥ ओष्ठ्या आश्विनः पकारादयः । शेषा वैश्वदेवा यमादयः ॥ ४ ॥

अकार आदि कण्ठ्य–कण्ठ से बोले जाने वाले है, ककार आदि जिह्वामूल से बोले जाने वाले निर्ऋति देवता वाले हैं, चकार आदि तालु से बोले जाने वाले अक्षर सोम देवता वाले है, टकार आदि मूर्धा से बोले जाने वाले अक्षर वायु देवता वाले हैं, तकार आदि दान्तों से बोले जाने वाले अक्षर रुद्र देवता वाले हैं, पकार आदि ओठों–होंठो से बोले जाने वाले अक्षर अश्विनी देवता वाले हैं, शेष यम आदि–यम (कुँ, खुँ, गुँ, घुँ), अनुस्वार (ं), अनुनासिक्य ँ, रङ्ग '६,९' विश्वदेव देवता वाले हैं, अकार आदि के यह अग्नि आदि देवताओं का कथन अन्य प्राचीन या आर्ष ग्रन्थों में नहीं मिलता है, छान्दोग्योपनिषद् में तीन नामों का सम्बन्ध इस प्रकार तो है कि "सर्वे स्वरा इन्द्रस्यात्मानः सर्वे उष्माणः प्रजापतेरात्मानः सर्वे स्पर्शा

मृत्योरात्मानः" (छान्दो० २। २२) सारे स्वर अकार आदि इन्द्र के आत्मा हैं सारे ऊष्म 'श, ष, स, ह' प्रजापति के आत्मा हैं सारे स्पर्श मृत्यु के आत्मा हैं। ऊपर वाले देवता वर्णन से उपनिषदों का वर्णन भिन्न है। ऊपर कहे देवताओं का सम्बन्ध अल्परूप में इस प्रकार कल्पित किया जा सकता है कि—"स्वयं राजन्त इति स्वराः" (महाभाष्य० १। २। २६ आ० १) स्वय अपने आधार पर प्रकाशमान होते हैं अकार आदि अतः अग्नि देवता-वाले हुए अग्नि भी स्वयं प्रकाशमान होने से, ककार आदि जिह्वामूल से संलग्न रहने से निर्ऋति-विपत्ति सी में पड़े रहते हैं, अत: निर्ऋति देवता वाले हैं, उपनिषद् में स्पर्श अक्षरों को मृत्यु सम्बन्धी कहा है कुछ साम्य यहां है। चकार आदि अक्षर सोम देवता वाले कहे हैं "निरुक्तः सोमस्य" (छान्दो० २। २२) पांच वर्गों में चवर्ग अक्षर निरुक्त स्पष्ट हैं, टकार आदि के उच्चारण में जिह्वा का मूर्धा में अधिक श्लेष करना पड़ता है सो वायु सर्वात्मना वस्तु में मृदु श्लेष करता है "मृदु श्लक्ष्णं वायोः" (छान्दो० २। २२) अत वायु देवता वाले हुए तकार आदि अक्षर दान्तों में बोले जाते है दान्त काटने में क्रूर कर्मता करता है जो रुद्र का धर्म है अत: य तकार आदि अक्षर रुद्र देवता वाले हो सकते हैं, पकार आदि को अश्विनी देवता वाले कहा हैं। अश्विनी युगल देवता हैं पकार आदि युगल जोडे-होठों से बोले जाते हैं। अत: पकार आदि अश्वि देवता वाले है 'अश्विनो का युगलत्व- द्वित्व-दीपना ब्राह्मण ग्रन्थों में कहा भी है "आश्विनं द्विकपालं पुरोडाशम्" (शत० ५। ३। १। ८) तथा "द्वाभ्यां

बाहुभ्यां द्वाभ्यामरणीभ्यां मन्थन्ति द्वौ वा आश्विनौ तदप्याश्विनं रूपम् ॥" (ऐ० २।४)॥

स्वरास्तु, ब्राह्मा ज्ञेया वर्गाणां प्रथमाश्च ये।
द्वितीयाश्च तृतीयाश्च चतुर्थाश्च चापि भूमिपाः ॥१॥

वर्गाणां पञ्चमा वैश्या अन्तस्थाश्च तथैव च।
ऊष्माणश्च हकारश्च शूद्रा एव प्रकीर्तिताः ॥ २ ॥

अकार आदि स्वर ब्राह्मण जानने चाहिए, वर्गों के प्रथम क, च, ट, त, प' तथा द्वितीय 'ख, छ, ठ, थ, फ' तथा तृतीय अक्षर 'ग, ज, ड, द, ब' तथा चतुर्थ 'घ, झ, ढ, ध, भ' ये सब २० अक्षर भूमिपाः—क्षत्रिय हैं, वर्गों के पञ्चम 'ङ, ञ, ण, न, म' तथा अन्तस्थ 'य, र, ल, व' वैश्य हैं, ऊष्म 'श, ष, स,' और हकार शूद्र हैं, इस प्रकार अक्षरों को ब्राह्मण आदि नाम देना केवल उनके उच्चारण गुण सुगमता के उच्च नीचे कारण जानने चाहिएं, स्वर उच्चारण करने में सब से अधिक सुगम है तो ब्राह्मण हैं। वर्गों के प्रथम से चतुर्थ कुछ कम सुगम होने से क्षत्रिय हैं, वर्गों के पञ्चम तथा य, र, ल, व' उच्चारण में अधिक यत्न चाहते हैं। अतः ये वैश्य और 'श, ष, स,' और हकार उच्चारण में अति कठिन होने से शूद्र हैं। ब्राह्मण आदि नाम की कल्पना अन्य वस्तुओं की भी देखने में आती है, जैसे "अग्ने महां असि ब्राह्मण" (कौ० ३।२) जड देवताओं में अग्नि ब्राह्मण है, "सोमो वै ब्राह्मणः" (तां० १।७।४।२) ओषधियों में सोम ब्राह्मण है "क्षत्रं वा इन्द्रः" (कौ० १२।८)

देवताओं में इन्द्र क्षत्रिय है "क्षत्रं वा एतदोषधीनां यद् दूर्वाः" (ऐ० ८।८) ओषधियों में दूब घास क्षत्रिय है ॥ २ ॥

शुक्लवर्णानि नामानि, आख्याता रोहिता मताः ।
कपिलास्तूपसर्गाश्च कृष्णाश्चैव निपातकाः ॥ ३ ॥

गौ आदि नाम वाचक शब्द शुक्ल वर्ण वाले हैं, गच्छति आदि आख्यात पद रक्त रंग वाले हैं, प्रपरा आदि उपसर्ग कपिल रक्त पीत चित्रित न्यून रक्त रंग वाले है निपात कृष्ण रंग वाले हैं। नाम वाचक शब्द शुद्ध अर्थ–केवल अर्थ रखते हैं, अतः शुक्ल कहे हैं।

आख्यात तो वर्तमान आदि काल और प्रथम आदि पुरुष से रञ्जित होने के कारण रक्त कहे हैं, उपसर्ग दोनों के साथ युक्त होने से शुक्ल और रक्त के मिश्रण से कपिल रंगवाले कहे हैं, और निपात असत्ववाचक होने से कृष्ण रंगवाले कहे हैं, यह सब रंग कल्पना विनोदमात्र है या प्ररोचनार्थ कथन है ॥ ३ ॥

भारद्वाजकमाख्यातं भार्गवं नाम भाष्यते ।
वसिष्ठा उपसर्गाश्च निपाताः काश्यपाः स्मृताः ॥ ४ ॥

आख्यात–क्रियापद भरद्वाज से सम्बन्ध रखने वाले हैं, "मनो वै भरद्वाज" (शत० ८।१।१।९) मन से सम्बन्ध रखने वाले आख्यात–क्रिया पद कहे कारण कि आख्यात पद सत्ता वाचक नहीं है केवल मन से समझे आने वाले भूतकाल और भविष्य काल के तो मन में ही रहते हैं अतः भारद्वाज अर्थात् मन से सम्बन्ध रखते हैं, नाम वाचक शब्द भार्गव भृगु–

भर्जनात् प्रकाशित रहने से साक्षात् हस्त पाद मुख नेत्र आदि से गृहीत होते हैं। उपसर्ग प्र, परा आदि तो आख्यात और नाम पदों में आतिशय से बसजाने से उनमें घुल मिल जाने से घासिष्ठ हैं, जैसे "प्रतिष्ठते, सङ्गच्छते, प्राचार्यः प्रपदम्"। निपात काश्यप हैं, कश्यप धर्मयुक्त हैं 'कश्यपः पश्यकः' ये निपात पश्यक हैं देखते हैं तटस्थ रहते हैं, नाम और आख्यात में मिलते नहीं किन्तु देखते ही हैं कि नाम का साथ दें या आख्यात का साथ दें, ऐसे ये अवसरदर्शी निपात हैं।

सर्वं तु सौम्याख्यातं नाम वायव्यमिष्यते।
आग्नेयस्तूपसर्गः स्यान्निपातो वारुणः स्मृतः ॥ ५ ॥

आख्यात पद सोम देवता वाले हैं सोम चन्द्रमा है जो स्थिर नहीं रहते नश्वर होने से। नाम पद वायु देवता वाला है वायु अनश्वर है प्रत्येक जड चेतन में प्राप्त है ऐसे ही नाम भी प्रत्येक आख्यात में प्राप्त है व्याप्त है, पठति, गच्छति, अपाठीत्, अगमत्, पठिष्यति, गमिष्यति, तिष्ठति, अस्थात्, स्थास्यति बालकः। इन समस्त आख्यात पदों में बालक आदि नाम पद प्राप्त व्याप्त है कारण कि बिना कारक के क्रिया नहीं होती है, उपसर्ग अग्नि देवता वाले हैं, अग्नि प्रकाशित रहता है वस्तुओं को गुणान्तरित कर देता है उपसर्ग भी आख्यात और नाम पद को चमका देते हैं अर्थान्तरित कर देते हैं जैसे 'आहरति, उपहरति, प्रहरति, परिहरति, व्यवहरति, संहरन्ति, प्राचार्यः, उपाध्यायः, आदि निपात वरुण देवता वाले हैं, वरुण वरने वाला अपनी ओर खींचने वाला अपने प्रवाह में ले आने वाला बान्धने वाला जल प्रवाह या आकाश में फैला सूक्ष्म जल प्रवाह जैसे निपात है अपनी ओर नाम और आख्यात को खींचने वाले अपने में

बान्धने वाले होने से वरुण देवताक है जैसे 'गच्छति च खादति च' मनुष्यश्च पशुश्च, न खादति न गच्छति, 'न पशुर्न पक्षी, उच्चैर्वदति, उच्चैर्वृक्षः, इत्यादि। उक्त कथन प्ररोचनार्थ और बुद्धिविकासार्थ है॥ ५॥

आदित्यो मुनिभिः प्रोक्तः सर्वाक्षरगणस्य च।

सब अक्षरगण तथा सब पदों का आदित्य देवता है, आदित्य-सूर्य जैसे स्थूल सूक्ष्म जड जङ्गम शरीरों को प्रकाशित करता है उनमें चेतना का सञ्चार करता है ऐसे ये अकार आदि सब अक्षर और गौ भूमि आदि नाम और गच्छति आदि आख्यात उपसर्ग निपात, एक अर्थों का प्रकाश करने वाले और अध्ययन करने वाले के अन्दर चेतना ज्ञान का सञ्चार करने से ये सब आदित्य देवता वाले हैं। यह भी प्ररोचनार्थ बुद्धिविकासार्थ कथन है॥

स्वरा विसर्जनीयाश्च यमाः पुल्लिङ्गकाः स्मृताः॥ ६॥

प्रथमाश्च तथान्तस्थाः स्त्रीलिङ्गाः परिकीर्त्तिताः।
शेषाक्षराणि षण्ढानि प्राहुर्लिङ्गविवेचकाः॥ ७॥

अकार आदि स्वर, विसर्जनीय, यम ये पुल्लिङ्ग कहे हैं। वर्गों के प्रथम 'क, च, ट, त, प' अक्षर अन्तस्थ 'य, र, ल, व' स्त्रीलिङ्ग कहे हैं, शिष्ट--बचे अक्षरों को नपुंसक लिङ्ग विवेचक जन कहते हैं यह कथन कल्पनामात्र है। तथापि अकार आदि स्वर उनके संयुक्त विसर्ग पुल्लिङ्ग--पुरुष धर्म वाले हैं स्वाधार निर्वाहक होने से वर्गों के प्रथम क, च, ट, त, प' अक्षर स्त्रीलिङ्ग हैं, पुरुषरूप स्वरों के आधार पर उच्चरित

होने से तथा अन्तस्थ 'य, र, ल, व' भी स्वरों के आधार पर अपितु-उन्हीं के रूपान्तर हैं 'इ-अ'-य, 'उ-अ'-व, 'ऋ-अ' र, 'लृ-अ'-ल, बन जाने से स्त्रीलिङ्ग-स्त्रीवत् हैं, स्त्रीधर्म वाले हैं, शिष्ट-बचे वर्गों के चार चार नपुंसक लिङ्ग हैं जो पुरुषरूप स्वरों तथा वर्गों के आदि 'क, च, ट, त, प' के पीछे इनकी भूमि पर चलते हैं तथा ऊष्म 'श, ष, स, ह' तथा अन्य भी नपुंसक हैं पुरुष रूप स्वरों के पीछे तथा विसर्जनीय के स्थान पर आदेश रूप में आने और ख आदि स्त्री रूप के साथ संयुक्त होने से नपुंसक धर्म वाले अति परतन्त्र हैं ॥ ७ ॥

अथ सन्धयः ।

सन्धिश्चतुर्विधो भवति लोपागमविकाराः प्रकृति भावश्च सन्धि चार प्रकार की होती हैं, जो कि लोप, आगम-बढ़जाना विकार-वर्ण परिवर्तन, प्रकृतिभाव-ज्यों का त्यों रहना ।

तत्र लोपो यथा-'अयक्ष्माः मा'-"अयक्ष्मा मा" (यजु० १।१) 'शततेजाव्वायुः' "शततेजा व्वायुः" (यजु० १।२४) तिग्मतेजाः द्विषतः-"तिग्मतेजा द्विषतः" (यजु० १ । २४) इति ।

आगमो यथा-प्रत्यङ् सोमः, प्रत्यङ्क् सोमः" (यजु० २०।३२) प्राङ् सोम प्राङ्क्सोमः(यजु० १९।२) 'अस्मान् सीते अस्मान् सीते" (यजु० १२।६९)त्रीन् समुद्रान् "त्रीन्त्समुद्रान्" (यजु० १३।३१)

आगम सन्धि-उपजन-वर्ण का बढ़ आना, इन उदाहरणों में पूर्व दो उदाहरणों में पूर्वपदों के अन्तिम 'ङ्' के आगे 'क्' बढ़ गया, पिछली दो उदाहरणों में पूर्व पद के अन्तिम 'न्' के आगे 'त्' बढ़ गया है ।

विकारो यथा—आ इदम, एदम, (यजु० ४। १) आ इमं एमं (यजु० २३। ६०) आ इष्टयः, एष्टयः (यजु० १८। ८१) प्र इषितः प्रेषितः (यजु० २१। ४१) इति।

विकार सन्धिः—वर्ण का परिवर्तित हो जाना, इन उदाहरणों में 'पूर्व 'आ' उत्तर पद के 'इ' का एक रूप 'ए' में परिवर्तित हो गया।

प्रकृतिभावो यथा—आशुः शिशानः, आशुः शिशानः (यजु० १७। ३३) युञ्जानः प्रथमम्, युञ्जानः प्रथमम् (यजु० ११। १) अदितिः षोडशाक्षरेण, अदितिः षोडशाक्षरेण (यजु० ९। ३४) इन्द्राग्नी आगतम्, इन्द्राग्नी आगतम्' (यजु० ७। ३१) 'नमो अस्तु, नमो अस्तु' (यजु० १६। ६४) इति।

प्रकृति भाव सन्धि—ज्यों का त्यों रहना, इन उदाहरणों में प्रथम चार स्थानों के पूर्व पद का अन्तिम विसर्ग ज्यों का त्यों रहा, पिछले पञ्चम उदाहरण में पूर्वपद का अन्तिम 'ई' दीर्घ इकार उत्तर पद के आदि 'आ' के साथ सन्धि में विकृत नहीं हुआ ज्यों का त्यों रहा, ऐसे ही षष्ठ उदाहरण में 'नमो' का ओकार और अगले पद 'अस्तु' के 'अ' में सन्धि से पूर्व रूप नहीं हुआ॥

आकाशस्था यथा विद्युत् स्फुरिता मणिसूत्रवत्।
एषच्छेदो निवृत्तीनां यथा बालेषु कर्तरी॥ ८॥

जैसे आकाशस्थ विद्युत् मणिसूत्र की भांति स्फुरित होती है यह विवृत्तियों का विभाग है जैसे बालों में कैंची चिर चिर शब्द करती है उतने काल तक है ॥ ८ ॥

द्वयोस्तु स्वरयोर्मध्येसन्धिर्यत्र न दृश्यते ।
विवृत्तिस्तत्र विज्ञेया यऽईशे तु निदर्शनम् ॥ ९ ॥

दो स्वरों में मध्य में जहां सन्धि न दिखलाई पडे वहां विवृत्ति जाननी चाहिए "यऽईशे" (यजु० २३ । ३) यह उदाहरण है, विवृत्ति का अर्धमात्रा विराम दोनों पदों में है ॥ ९ ॥

पिपीलिका पाकवती तथा वत्सानुसारिणी ।
वत्सानुसृजिता चैव चतस्रस्ता विवृत्तयः ॥ १० ॥

पिपीलिकाऽऽद्यन्तदीर्घा नाभ्याऽआसीन्निदर्शनम् ।
पाकवत्युभयोर्ह्रस्वा विनऽ इन्द्रेति दर्शनम् ॥११॥

वत्सानुसारिणी चादौ दीर्घा ताऽअस्य दर्शनम् ।
वत्सानुसृजिता ता नऽआवोढमश्विना ॥ १२ ॥

विवृत्तियां चार प्रकार की है—पिपीलिका, पाकवती, वत्सानुसारिणी, वत्सानुसृजिता है ! आदि और अन्त पद में पूर्ण पद के अन्त में उत्तर पद के आदि दीर्घ होने से पिपीलिका विवृत्ति है, पिपीलिका-चींटी जैसे मध्य में कृश होती है "नाभ्याऽआसीत्" (यजु० ३१ । १३) दोनों और अन्त और आदि पद में ह्रस्व होने से पाकवती विवृत्ति कहलाती है जैसे

'वि नं इन्द्र' (यजु० ८।४४), आदि पद में दीर्घ होने पर वत्सानुसारिणी जैसे "ताक्ष्र्यस्य" (यजु० १२।५५) आगे ह्रस्व बच्चा है उसे आगे करके होने से वत्सानुसारिणी है। आदि में ह्रस्व सोने से अन्तिम पद में दीर्घ होने से वत्सानुसृजिता है, जैसे "ता नुऽआ वोढम्" (यजु० २०।

करिणी कुर्विणी चैव हरिणी तथा।
तद्वद्धंस पदानाम पञ्चैताः स्वरभक्तयः ॥ १३॥

करिणी रहयोर्योगे कुर्विणी लहकारयोः।
हरिणी रशयो योंगे हरिता लशकारयोः ॥ १४॥

या तु हंसपदा नाम सा तु रेफषकारयोः।

स्वर भक्तियां-स्वर अर्थात् अकार आदि स्वर वर्ण वैयाकरण भाषा में 'अच्' की भक्तियां-भजने वाले उच्चारण में साथ बोले जाने वाले, जहां बोलकर कुछ रुकना चाहिए ऐसी पांच स्वर भक्तियां है जो कि करिणी, कुर्विणी, हरिणी, हरिता, हंसपदा कहलाती हैं। इन में 'र' और 'ह' का संयोग होने पर करिणी स्वर भक्ति, 'लकार हकार का संयोग होने पर कुर्विणी स्वर भक्ति, 'र' और 'श' का संयोग होने मर हरिणी, लकार शकार का संयोग होने पर हरिता स्वर भक्ति, जो तो रेफ षकार का संयोग होने पर स्वरभक्ति है वह हंसपदा कहलाती है ॥

देवं बर्हिश्च करिणी, उपवल्हेति कुर्विणी ॥ १५॥
हरिणी दर्शतमिति शतवल्शेति हरिता।

वर्षो वर्षीयसीत्याहु स्तथा हंसपदेति च ॥ १६ ॥

"दे॒वं ब॒र्हिः" (यजु० २१ । ४८) यहां रेफ और हकार का संयोग होने से करिणी नाम की स्वर भक्ति है यहां उच्चारण करते हुए 'बर्' पर कुछ रुकना होता है। "उपबल्हामसि" (यजु० २३ । ५१) यहां लकार और हकार का संयोग होने से कुर्विणी नाम की स्वर भक्ति है यहां 'उपबल्' पर कुछ रुकना होगा। "दर्शतम्" (यजु० ११ । २७) रेफ और शकार का संयोग होने से हरिणी नाम की स्वर भक्ति है यहां 'दर्' पर कुछ रुकना होता है। "श॒तव॑ल्शा" (यजु० २१ । १००) यहां लकार और लकार और शकार का संयोग होने से हारिता-हरिता नाम की स्वर भक्ति है यहां 'वल्' पर कुछ रुकना होता है। "व॒र्षो वर्षीयसि" (यजु० ६ । ११) यहां रेफ और षकार का संयोग होने से हंस पदा नाम की स्वर भक्ति है यहां 'वर्' पर कुछ रुकना होता है ॥ १५-१६ ॥

रलाभ्यां पर ऊष्माणो यत्र स्युः स्वरितोदयाः ।
स्वरभक्तिरसौ ज्ञेया पूर्वमाक्रम्य पठ्यते ॥

'र्' और 'ल्' से परे ऊष्म-'श, ष, स, ह' ये अक्षर जहां स्वर परे होने पर हो वहां स्वर भक्ति जाननी चाहिए अर्थात् व्यञ्जन परे होने वाली नहीं समझना व्यञ्जन परे होने पर भी यह बात पूर्व कथन को अवलम्बन करके या लेकर कही है। सो व्यञ्जन परे होने पर वह स्वर भक्ति प्राप्त नहीं होती थी इससे हो गई, जैसे "वर्ष्याय" (यजु० १६ । ३८) ॥

स्वरभक्तिं प्रयुञ्जानस्त्रीन् दोषान् परिवर्जयेत् ।
इकारं चाप्युकारं च ग्रस्तदोषं तथैव च ॥ १७ ॥

स्वर भक्ति का प्रयोग करनेवाला तीन् दोषों को छोड देवे जो कि इकार, उकार, और ग्रस्त दोष-स्थान करण का पीडन हैं ॥ १७ ॥

एतल्लक्षणमाख्यातं याज्ञवल्क्येन धीमता ।
सम्यक् पाठस्य सिद्ध्यर्थं शिष्याणां हितकाम्यया ॥१८॥

बुद्धिमान् याज्ञवल्क्य ने शिष्यों की हितकामना-मङ्गल कामना से सम्यक्-पाठ की सिद्धि के अर्थ स्वर भक्ति का लक्षण किया है ॥ १८ ॥

अर्धमात्रास्वरं किञ्चित् पृथङ् न्यूनमिवोचरन् ।
ऋकारे च लृकारे च हृत्कण्ठमनसाऽपि च ॥ १९ ॥

'ऋ' और 'लृ' में 'र्' और 'ल्' से कुछ पृथक् आधी मात्रास्वर 'ए' है, अन्यत्र प्रसिद्ध विधान होने से "ऋकारः खलु सर्वत्र ह्येकारसदृशो भवेत्" (ल० मा० शि० २८) एकार उच्चारण से न्यून जितना एकार उच्चारण हो। जैसे "कृष्णोस्य०" (यजु० २। १) यहां 'क्रेष्णोस्य' ऐसा बोलना होता है। तथा "क्लृप्तञ्च मे" (यजु० २। १) यहां 'क्लेप्त में' ऐसा बोलना होता है। 'ऋ' में 'र्' और 'लृ' में 'ल्' अस्पष्ट रहे पूरे सुनने में न आने जैसे हों कारण कि वे संश्लिष्ट हैं जैसा कि यजुर्वेदीय प्रातिशाख्य में कहा है "ऋलृवर्णेरेफलकारौ संश्लिष्टाव-श्रुतिधरावेक वर्णौ" (यजु० प्रा० ४। १४६)॥

आद्या मात्रा तु कण्ठस्य एकारौकारयो र्भवेत् ।
तालव्यस्य तथौष्ठ्यस्य द्वितीया च यथाक्रमात् ॥२०॥

'ए' और 'ओ' में आदि वाली प्रथम मात्रा तो कण्ठ से बोली जाने वाली है 'अ' रूप में द्वितीय मात्रा 'ए' में 'इ' तालु से बोलीजाने वाली है। तथा 'ओ' में द्वितीय मात्रा 'उ' ओष्ठों से बोली जाने वाली मात्रा है ॥

ओङ्कारस्तु प्लुतो ज्ञेयः प्लुतमग्ना द्वितीयकम् ।
लाजीनिति तृतीयञ्च शाचीनिति चतुर्थकम् ॥२१॥

पञ्चमं तु विवेशाधः स्विदासीदिति षष्ठकम् ।
सप्तमं तु परिस्विदा ह्यष्टमं नैव विद्यते ॥ २२ ॥

ओङ्कार प्लुत जानना चाहिए-ओ३म् जैसे "ओ३म् प्रतिष्ठ" (यजु० २१। २३) "ओ३म् क्रतो स्मर" (यजु० ४० । १५) "ओ३म् खम्ब्रह्म" (यजु० ४०।१७) द्वितीय प्लुत "अग्ना३इ" (यजु० ८। १०) तृतीय प्लुत "लाजी३ञ्छाची" (यजु० २३ । ८) चतुर्थ प्लुत "शाची३न्" (यजु० २३ । ८) पञ्चम प्लुत "विवेशा३" (यजु० २३ । ४९) षष्ठ अधः स्विदासी३त्" (यजु० २३ । ७४) सप्तम प्लुत "उपरि स्विदासीत्" (यजु० २३ । ७४) अष्टम प्लुत नहीं है।

ऌकारस्य तु दीर्घत्वं नास्ति वाजसनेयिनः ।

वाजसनेयी शाखा में 'ऌ' का दीर्घत्व अर्थात् दीर्घ नहीं होता है ॥

नैतत् स्वरितपूर्वाङ्गो नापराङ्गो कथञ्चन ।
न स्वरे न च मात्रायां कथं स्वारो विधीयते ॥ २३ ॥

पराङ्गस्य तु यत् पूर्वं पूर्वाङ्गस्य तु यत् परम् ।
उभयोरर्द्धसंयोगे स्वारं कुर्याद्वि विचक्षणः ॥ २४ ॥

'न-एतत्-' व्यञ्जनसन्धि या दो व्यञ्जनों के संयुक्त होने पर यह हस्त चालन का विधान करना नहीं बनता कारण कि स्वरित स्वर से युक्त पूर्वाङ्ग व्यञ्जन में और स्वरित से युक्त पराङ्ग व्यञ्जन में स्वर नहीं होता है यह ऐसा हस्त प्रक्षेप किया स्वर न स्वर-अच् में घटित होता है और न मात्रा-स्वर भक्ति रूप व्यञ्जन में घटित होता है तब कैसे स्वर-हस्तस्वर-हस्त चालनरूप स्वर विधान आ सकता है "संयोगादि पूर्वस्य" (यजु० प्रातिशाख्य १।१०२) संयोग का आदि व्यञ्जन पूर्व उदात्त आदि स्वर युक्त अच् का अङ्ग हो जाता है हस्तचालन में, एवं संयोग का उत्तर व्यञ्जन उदात्त आदि स्वर से युक्त पर अच् का अङ्ग न जाता है सो यह ठीक नहीं बैठता है यह आक्षेप है, इस का उत्तर दिया है कि पराङ्ग-पर उदात्त आदि अच् का अङ्ग भूत व्यञ्जन का जो आदि व्यञ्जन का जो आदि व्यञ्जन और पूर्व उदात्त से युक्त अच् का जो पर व्यञ्जन है इन दोनों के आधे संयोग में विद्वान् हस्त स्वर-हस्त प्रचालन करे, जैसे "रुक्क्मः" (यजु० १२।१) यहां 'रुक्' में 'क्' पूर्वाङ्ग है 'म' पराङ्ग है दोनों का अर्ध संयोग दूसरे 'क्' पर होगा ॥ २३-२४ ॥

सो कैसे यह कहते हैं—

संयोगे तु परं स्वार्यं परं संयोगनायकम् ।
संयुक्तस्य तु वर्णस्य न स्वार्यं पूर्वमक्षरम् ॥ २५ ॥

व्यञ्जनों के संयोग में तो पर-पर का अङ्ग व्यञ्जन स्वर-हस्त-स्वर करने योग्य है कारण कि पर व्यञ्जन संयोग का नायक है, संयुक्त वर्ण का पूर्व अक्षर-व्यञ्जन उत्तर स्वर-अच् के साथ स्वर करने योग्य नहीं है ॥ २५ ॥

अवग्रहे पदच्छेद उदात्तो दृश्यते यदि ।
स्वरान्तं स्वरितं प्राहुः सन्धौ तु स्वार्यते ॥ २६ ॥

अवग्रह-समास आदि के प्रकृति रूप को दिखाने में, पदच्छेद-संहिता के पृथक् पृथक् पद-पदपाठ में उदात्त यदि दिखलाई पड़े तो स्वर उदात्त आदि स्वर का अन्त-अन्तिम व्यञ्जन स्वरित हो जाने पर स्वरित अच् की मात्रा के साथ व्यञ्जन पर स्वरित चिह्न हो जावे, जैसे 'सम् इद्धः'-"समिद्धः" (यजु० २४।२) पदच्छेद में जैसे 'उत्-एनम्' सन्धि में पर अच् को स्वरित कर देते हैं "उदेनम्" (यजु० १७।५०)॥ २६ ॥

स्वरसन्धिविधानेन नीचोच्चत्वं विधीयते ।
व्यञ्जनाद्वा स्वराद्वापि तत्सन्धौ स्वर उच्यते ॥ २७ ॥

स्वरों की व्यञ्जनों के साथ सन्धि के विधान से जो नीच-अनुदात्त और उच्च-उदात्त किया जाता है वह व्यञ्जन से परे या स्वर 'अच्' से परे सन्धि में जो स्वर 'अच्' होता है उस में कहा जाता है, अर्थात् व्यञ्जन में उदात्त आदि का कथन सस्वर-अच् के सहित होता है, जैसा कि यजुर्वेदीय प्रतिशाख्य

में कहा है। "प्राग्वर्णादक्षराणामेकीभावः" (यजु० प्राति० ४।१२०) पुनः "उदात्ताच्चानुदात्तं स्वरितम्" (यजु० प्राति० ४।१३५) "उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः" (अष्टा० ८।४६५) व्यञ्जनसहित स्वर-'अच्' को भी होता है, व्यञ्जन उदात्त आदि स्वर करने में व्यवधान में होता हुआ बाधक नहीं व्यञ्जन-सहित को भी उदात्त आदि स्वर होता है, जैसे-'स्वाहा' शब्द आद्युदात्त है 'ह' अनुदात्त को उदात्त से परे स्वरित हो जाता है "स्वाहा" (यजु० ४।६) यह हकारसहित आकार को स्वरित हुआ हकार बीच में होते हुए भी यह विधान हकार व्यञ्जनसहित आकार को 'हा' हकार भी स्वरित समझना होगा, अन्यथा विधान निरर्थक हो जावेगा, इसी प्रकार 'मो सु नः' की स्वरसन्धि होगी तो "मोषूणः" (यजु० ३।४६) 'षू' उदात्त 'णः' व्यञ्जनसहित को स्वरित हुआ और ऐसा ही सम्भव है अन्यथा व्यञ्जन के व्यवधान से स्वरित नहीं हो सकेगा ॥ २७॥

[उदात्तादनुदात्तं तु वामाया भ्रुव आरभेत् ।
स्वरिते चानुदात्तं च क्रमाद् दक्षिणतो न्यसेत् ॥

स्वरितादुत्तरे येऽत्र प्रचयाँस्तान् प्रचक्षते ।
एकस्वरानपि च तानाहुस्तत्त्वार्थचिन्तकाः ॥

प्रचया यत्र दृश्यन्ते तत्र हन्यात् स्वरं बुधः ।
स्वरितः केवलो यत्र मृदु तत्र निपातयेत् ॥]

ये श्लोक पीछे इसी पुस्तक के स्वरप्रकरण में ५७, ५९, ६२ श्लोक संख्या आचुके हैं वहां इनके अर्थ दिए जा चुके हैं, यहां ये अप्रासङ्गिक हैं किसी ने अन्यथा देदिए हैं ॥

दुर्बलस्य यथा राष्ट्रं हरते बलवान् नृपः ।
एवं व्यञ्जनमासाद्य–अकारो हरति स्वरम् ॥२८॥

स्वर उच्चः स्वरो नीचः स्वरः स्वरित एव च ।
स्वरप्रधानं त्रैस्वर्यं व्यञ्जनं तेन सस्वरम् ॥ २९ ॥

जैसे बलवान् राजा दुर्बल राजा का राष्ट्र हरता है–छीन लेता है इसी प्रकार अकार–अकार आदि स्वर व्यञ्जन के स्वर को प्राप्त होकर उदात्त आदि स्वर को हरलेता है व्यञ्जन मध्य में हुआ बाधक नहीं, कारण कि स्वर–अकार आदि–अच् ही उक्त उदात्त होता है अकार आदि स्वर–अच् ही अनुदात्त होता है; अकार आदि स्वर–अच् ही स्वरित होता है, तीनों स्वर उदात्त आदि स्वर प्रधान–अच्प्रधान हैं । उसके द्वारा व्यञ्जन सस्वर हो जाता है ॥ २९ ॥

मणिवद् व्यञ्जनान्याहुः सूत्रवत् स्वर इष्यते ।
व्यञ्जनान्यनुवर्तन्ते यत्र तिष्ठति सस्वरः ॥ ३० ॥

माला में मणियों की भांति व्यञ्जन को कहते हैं, स्वर तो माला में सूत्र के समान इष्ट हैं, जहां उदात्त आदि सहित स्वर–अच् होता है वहां व्यञ्जन अनुवर्तित होते हैं उस उदात्त आदि सहित स्वर–अच् के साथ व्यञ्जन भी उदात्त आदि स्वर वाले हो जाते हैं या माने जाते हैं ॥ ३० ॥

उदात्तं नानुवर्तेत नीचं न स्वरितं तथा ।
विस्वरं तं विजानीयाद् दीर्घह्रस्वविवर्जितम् ॥२१॥

जो व्यञ्जन न उदात्त न अनुदात्त और न स्वरित स्वर-अच् को अनुवृत्त करता है—उस से युक्त नहीं होता है उस ह्रस्व दीर्घ मात्रा से रहित व्यञ्जन को उदात्त आदि स्वर से रहित जाने अर्थात् केवल व्यञ्जन उदात्त आदि स्वररहित होता है ॥ २१ ॥

हरिवरुणवरेण्याश्च धारापुरुषौ तथा ।
विश्वानरं विहायैकं शेषा रस्वरिता नराः ॥ २२ ॥

'हरि, वरुण, वरेण्य, धारा, पुरुष' ये शब्द रेफ स्वरित वाले हैं तथा 'विश्वानर' इस एक शब्द को छोडकर शिष्ट-बचे 'नर' शब्द 'र' स्वरित वाले है, जैसे-"योजा न्विन्द्र ते हरीं" (यजु० ३। ४१) "वरुणस्य नाभिम्" (यजु० २१। ४२) "तत्सवितुर्वरेण्यं…" (यजु० ३। ३५) "घृतस्य धारा" (यजु० १७। ९३) "सहस्रशीर्षा पुरुषः" (यजु० ३१। १) 'विश्वानर' के 'नर' को छोडकर "लिप्यते नरे" (यजु० ४०।२) तथा "विश्वेन्नरः" (यजु० २७। २३) यहां विश्वा-इत्-नरः' ऐसा पद समूह है 'विश्वानर' नहीं है अतः यहां रेफ स्वरित है। 'विश्वानर' शब्द के 'नर' का रेफ स्वरित नहीं होता, जैसे "विश्वानराय" (यजु० ३३। ३२)

द्वौ वरुणौ वस्वरितौ उदुत्तमं त्वँ वरुणौ ।
धाकारे चोरु धारायां तथा धारे च दोहने ॥ २३ ॥

दो 'वरुण' शब्द 'व' स्वरित वाले हैं उन में 'व' स्वरित होगा। जो कि "उदुत्तमं वरुण" (यजु० १२। १२) तथा "त्वं वरुण पश्यसि" (यजु० ३३। ३२) 'उरुधारा में धाकार अर्थात् 'धा' शब्द में जैसे "धुक्षोरुधारा पयस्वती" (यजु० ८। ४२) तथा 'धार' शब्द में दोहने के अभिप्राय में स्वरित हो 'धा' शब्द जैसे "शत धारेण सुप्त्वा कामधुक्षः" (यजु० १। ३) दोहनसम्बन्धी शतधार है अतः शतधार में 'धा' स्वरित होगा, सहस्र धार में नहीं, जैसे "सहस्रधारम्" (यजु० १। ३) ३३॥

मात्रिकं वा द्विमात्रं वा स्वार्यते यदिहाक्षरम्।
तस्यादितोऽर्द्ध ह्रस्वमात्रा स्याच्छेषं तु परतो भवेत्॥

उच्चस्थानगते······स्वरितं नोपपद्यते।
अधस्तात्तु यदा गच्छेत् स्वरितं नापि तद् भवेत्॥

उच्चादुच्चतरं नास्ति नीचान्नीचतरं तथा।
अक्षराणि चेत्तुल्यानि प्रचितान्युच्चगतानि च।

स्वर उच्चः स्वरो नीचः स्वरः स्वरित एव च।
स्वरप्रधानं त्रैस्वर्यं व्यञ्जनं तेन सस्वरम्॥

मणिवद् व्यञ्जनान्याहुः सूत्रवत् स्वरतोऽभ्यसेत्।
व्यञ्जनान्यनुवर्तन्ते यत्र तिष्ठति सस्वरः॥

आचार्याः सममिच्छन्ति पदच्छेदं तु पण्डिताः ।
स्त्रियो मधुरमिच्छन्ति विक्रुष्टमितरे जनाः ॥

अनुदात्तं नानुवर्तेत नीचं न स्वरितं तथा ।
विस्वरं तं विजानीयाद् दीर्घह्रस्वविवर्जितम् ।

ये व्याख्यात श्लोक किसी ने यहां रख दिए "आचार्याः सममिच्छन्ति" श्लोक तो आगे प्रकीर्णाधिकार में आयगा वहां अर्थ दिया जायगा, अन्य सब श्लोक स्वर प्रकरण ६१, ६२, तथा ४८, ४६ और २६–३१ व्याख्यात हैं ॥

प्रथमा यत्र दृश्यन्ते सन्धिस्थानेषु पूर्वतः ।
स्ववर्गीयेण संयुक्ता मोक्षं तत्र न कारयेत् ॥ ३४ ॥

वर्गों के प्रथम अक्षर 'क, च, ट, त, प, ये सन्धिस्थानों में दिखलाई पड़े पूर्व स्वर–अच् के अङ्ग होकर अपने वर्ग वाले अक्षर से संयुक्त हुए तो वहां मोक्ष न करे अर्थात् स्थान और करण का त्याग न करे एक प्रयत्न से मुखसन्धान–विशेष से करे, जैसे–"सम्यक् स्रवन्ति" (यजु० १३ । ३८) यहां दो ककारों के स्थान करण का विच्छेद न हो, तथा "त्र्यनुष्टुप् शारदी" (यजु० १३ । ४७) यहां दो पकारों का स्थान करण विच्छेद न हो ॥

तकारान्ते पदे पूर्वे चवर्गे परतः स्थिते ।
मोक्षं तत्र न कुर्वीत यच्च शेषे निदर्शनम् ॥ ३५ ॥

तकारान्त पूर्वपद होने पर चवर्ग आदि उत्तरपद होने पर मोक्ष–स्थान करण का त्याग उच्चारण में नहीं करे सन्धि में

पदच्छेद के समान स्थान करण का त्याग जैसे रहता है ऐसा न हो किन्तु स्थान करण हो, जैसे "यत्-च"-"यच्च शेपे" (यजु० ६।१७) "स्तोः श्चुना श्चुः" (अष्टा० ८।४।३९) ॥३५॥

ककारान्ते पदे पूर्वे सकारे परतः स्थिते ।
खसवर्णं विजानीयात् 'भिषक्क्सीसे' निदर्शनम् ॥ ३६ ॥

टकारान्ते पदे पूर्वे सकारे परतः स्थिते ।
ठसवर्णं विजानीयात् 'सम्राट्ट् सम्भृतः' दर्शनम् ॥३७॥

(पकारान्ते पदे पूर्वे सकारे परतः स्थिते ।
फसवर्णं विजानीयादप्प्स्वग्न इति दर्शनम् ॥]
पकारान्ते पदे पूर्वे शकारे परतः स्थिते ।
फसवर्णं विजानीयादनुष्टुप्प्शारदीति च ॥ ३८ ॥

पूर्व पद ककारान्त हो परे सकार होने पर ख सवर्ण को जाने, जैसे-"भिषक्सीसेन" (यजु० २१ । ३६), टकारान्त पूर्व-पद हो परे सकार हो तो ठकार सवर्ण यहां जाने, जैसे "सम्राट्ट् सम्भृतः" (यजु० २० । ५) [पकारान्त पूर्व पद हो परे सकार हो तो फकार सवर्ण जाने, जैसे "अप्प्स्वग्ने" (यजु० १२ । ३६)] परन्तु ये माध्यन्दिन यजुर्वेद में नहीं पढ़ते हैं। पकारान्त पूर्व पद हो और शकार परे होने पर फकार सवर्ण जाने जैसे-"अनुष्टुप्प्शारदी" (यजु० १३ । ५७) ॥ ३६-३८ ॥

तकारान्ते पदे पूर्वे सकारे परतः स्थिते ।
थसवर्णं विजानीयात् 'तत्सवितुर्निदर्शनम्' ॥ ३९ ॥
नैतन्माध्यन्दिनीयानां सस्थानत्वात् तयोर्द्वयोः ।
सस्थानेऽपि द्वितीयं स्यादापस्तम्बस्य यन्मतम् ॥ ४० ॥

तकारान्त पूर्व पद होने पर सकार पर पद हो तो थसवर्ण जाने "तत्सवितुर्वरेण्यं......" (यजु० ३ । ३५) श्लोक ३६ से ३९ तक का यह मत माध्यन्दिनीयों कात्यायन आदि का यह नहीं है कि समान स्थान होने से भी वर्गों के द्वितीय अक्षर 'ख, ठ, थ, फ' होवें ॥ ३९, ४० ॥

ङकारान्ते पदे पूर्वे सकारे परतः स्थिते ।
कसवर्णं विजानीयात् 'प्राङ्कसोम' इतिदर्शनम् ॥
नकारान्ते पदे पूर्वे सकारे परतः स्थिते ।
तसवर्णं विजानीयात् 'त्रीन्त्समुद्रान्' निदर्शनम् ॥

ङकारान्त पूर्व पद होने पर सकार परे हो तो कसवर्ण जाने, जैसे "प्राङ्क्सोमः" (यजु० १९ । २), नकारान्त पूर्व पद होने पर सकार परे हो हो तसवर्ण जाने, जैसे "त्रीन्त्समुद्रान्" (यजु० १३ । ३१) ॥

नकारान्ते पदे पूर्वे श्मश्रुभिः परतः स्थिते ।
छकारं न प्रयुञ्जीत 'नश' सन्धिसमुच्चरेत् ॥ ४१ ॥

नकारन्त पद पूर्व हो परे 'श्मश्रुभिः यह पद परे हो होने पर नकार के स्थान पर छकार प्रयोग का न करे किन्तु 'नश' के

स्थान पर 'अश' ऐसे सन्धि का उच्चारण करे "आदित्या-
श्मश्रुभिः" (यजु० २५। १) परन्तु माध्यन्दिनीय यजुर्वेद में
तो "आत्यां श्मश्रुभिः" ऐसा पाठ है ॥

नकारान्ते पदे पूर्वे त्वं पदे परतःस्थिते ।
सकारं न प्रयुञ्जीत चिकित्वान्त्वमिदं यथा ॥

नकारान्त पद पूर्व होने पर 'त्वं' पद परे होवे पर सकार का प्रयोग न करे जैसे "चिकित्वान्त्वं" (यजु० २६। २५) यहां यजुः प्रातिशाख्य में "नुः" (यजु० प्राति० ३। १३४) से नकार को "तथयोः सम्" (यजु० प्रा० ३। १३६) से तकार परे होने पर सकार प्राप्त है यहां 'त्व' परे होने पर निषेध किया है ॥

मकारान्ते पदे पूर्वे सवर्णे परतः स्थिते ।
मसवर्णं विजानीयात् 'इमम्म' इति दर्शनम् ॥

मकारान्त पद पूर्व में होने पर सवर्ण अक्षर परे हो तो मसवर्ण जाने, जैसे "इमम्मे" (यजु० २१ १) ॥

वर्णे तु मात्रिके पूर्वे ह्यनुस्वारो द्विमात्रिकः ।
द्विमात्रिके मात्रिकः स्यात् संयोगाद्यश्च यो भवेत् ॥४२॥

पूर्व वर्ण मात्रिक एक मात्रा वाला—अर्थात् ह्रस्व हो तो उस में अनुस्वार (ँ) दो मात्रा वाला होगा "अनुस्वारो ह्रस्व पूर्वो ऽध्यर्ध मात्रा पूर्वा चार्द्ध मात्रेति" (यजु० प्रा० ४। १४८) अर्थात् ह्रस्व पूर्वक अनुस्वार डेढमात्रा का और पूर्व ह्रस्व की

आधी मात्रा होती है अतः ह्रस्व का अनुस्वार (ँ) दो मात्रा का हुआ जैसे "माघशंसो" (यजु० १।१) "ह्रंस्व" (यजु० १।२) "संहिता" (यजु० ३। २२) "यंसम्" (यजु० २६।४८) "व्यकंस्त" (यजु० २।२५) तथा दो मात्रा वाले स्वर—दीर्घ स्वर का अनुस्वार मात्रिक—एक मात्रा वाला होगा "दीर्घादर्द्धमात्रा पूर्वा चाध्यर्द्धा" (यजु० प्राति० ४। १४६) यहां प्रातिशाख्य में दीर्घ से आगे अनुस्वार (ꣳ) आधी मात्रा और पूर्व दीर्घ की डेढ मात्रा रहेगी ऐसा कहा है। जैसा "रक्षांꣳसि" (यजु० ६। १६) "उपांꣳशो" (यजु० ६। ३८) तथा जो संयोग के आदि में होने वाला गुरुसंज्ञक ह्रस्व स्वर का अनुस्वार होवे हो वह ह्रस्व ही है उसके सम्बन्ध में आगे कहा है॥ ४२॥

अनुस्वारस्योपरिष्टात् संयोगो यत्र दृश्यते।
ह्रस्वं तं विजानीयात् संस्वामिति दर्शनम् ॥ ४३ ॥

अनुस्वार के आगे जहां संयोग दिखलाई पडे उस संयोग के परे होते हुए गुरुसंज्ञक को ह्रस्व ही जाने अनुस्वार विधान में अर्थात् यहां दीर्घ अनुस्वार (ँ) हो, जैसे "संस्वाम्" (यजु० १६।२६)। ४३॥

इन ४२ और ४३ श्लोकों की उदाहरणों नकार और मकार के स्थान में 'नश्चापदान्तस्य झलि-अनुस्वारः" (अष्टा० ८।३।२४) से अनुस्वार यहां ह्रस्वꣳदीर्घ ँ रूप में वेद में स्थिर किया है।

अनुस्वारो द्विमात्रः स्याद्वर्णव्यञ्जनादिगः।
ह्रस्वाद्वा यदि वा दीर्घाद् देवानांह्रदये यथा ॥ ४४ ॥

'ऋ' वर्ण जिस व्यञ्जन में है वह ऋवर्ण व्यञ्जन हुआ उस ऋवर्ण वाले व्यञ्जन के आदि में होने वाला अनुस्वार दो मात्रा-वाला होता है वह ह्रस्व से परे हो या दीर्घ से परे हो, ह्रस्व से तो प्राप्त था ही सामान्य विधान से परन्तु यहां दीर्घ से परे भी दो मात्रा का विधान हुआ, जैसे–"देवानाᳪ्हृदयेभ्यो" (यजु० १६। ४६)॥ ४४॥

यह अनुस्वार का उदाहरण "मोऽनुस्वारः" (अष्टा० ८। ३। २३) से पदान्त मकार का है। पदान्त में केवल मकार का ही ह्रस्व ᳪ या दीर्घ ँ अनुस्वार होता है नकार का नहीं।

अनुस्वारस्तु यो दीर्घादक्षराद्यो भवेत् परः।
स तु ह्रस्व इति ज्ञेयो मन्त्रेष्वेव विभाषया॥ ४५॥

जो अनुस्वार दीर्घ अक्षर से परे हो वह तो ह्रस्व है ऐसा जानना चाहिये मन्त्रों में ही व्यवस्थित विभाषा से ब्राह्मणों में नहीं, ऐसे ऋवर्ण वाला व्यञ्जन परे होने पर दीर्घ की दो मात्रा वाला अन्य–अनुस्वार मन्त्रों में समझें ब्राह्मणों में नहीं व्यवस्थित विभाषा से॥ ४५॥[1]

---

१ इन समस्त ह्रस्व ᳪ या दीर्घ ँ अनुस्वारों का उच्चारण 'ग्वङ्' नहीं है यह बात "इस याज्ञवल्क्यशिक्षा" के संस्कृतभाष्यकार पं० अमरनाथ शास्त्री ने भी श्लोक ४२ पर प्रदर्शित की "ये च गणपतिग्वङ्हवामहे इत्युच्चारयन्ति तेऽनधीतविद्याः प्रातिशाख्याद्यनभिज्ञाश्च (याज्ञवल्क्यशिक्षा वर्णा प्र० ४२ पर अमरनाथ शास्त्री भाष्यकार) इसके उच्चारण का प्रकार आगे ७२, ७३ श्लोको में देखें। न इनका उच्चारण 'ग्वाङ्' है और नाम 'ग्वाङ्' है किन्तु ह्रस्व अनुस्वार दीर्घ अनुस्वार नाम है जब कि ये केवल अनुस्वार परसवर्ण न होकर अनुस्वार रूप में रहते हैं वेद में ᳪ, ँ रूप में लिखे जाते हैं 'श, ष, स, ह, र' इन पांच अक्षरों के परे होने पर, वह आगे श्लोक ७३ में देखें इन्हें वहां "उपधानिका" नाम से कहा है।

ओभावश्च विवृत्तिश्च शषसा रेफ एव च ।
जिह्वामूलमुपध्मा च गतिरष्टधोष्मणः ॥ ४६ ॥

ऊष्मा-विसर्ग की आठ गतियां हैं जो कि 'ओभाव, विवृति, श्, ष्, स्, र्, जिह्वामूलीय ᳵ क-ख, उपध्मानीय ᳶ प-फ। इनका पूर्व वर्णन किया जा चुका यहां विशेष वर्णन करने को दिया है ॥ ४६ ॥

यद्योभावप्रसन्धानमुकारादि परं पदम् ।
स्वरान्तं तादृशं विद्याद् यदन्यद् व्यक्तमूष्मणः ॥४७॥

यदि पर पद उकारादि ओभाव को सन्धि में प्राप्त होने वाला हो तो पूर्वपद स्वरान्त अवर्णान्त होवे जो इस से अन्य अतिरिक्त ओभाव है वह निश्चित उष्मा-विसर्ग सम्बन्धी होगा। अर्थात्-"त्वा-ऊर्जे" यहां पूर्वपद 'त्वा' आकारान्त है और पर पद 'ऊर्जे उवर्णादि है तो यहां 'ओ' गुणसन्धि वाला है "त्वोर्जे" (यजु० १ । १) इससे भिन्न 'ओ' "कुक्कुटोसि" (यजु० १ । १६) 'कुक्कुट' असि विसर्ग सम्बन्धी है ॥ ४७ ॥

ओभावमागता योष्मा तां तु केलिं विनिर्दिशेत् ।
विवृत्तिप्रत्यया चोष्मा विज्ञेया विकटानना ॥ ४८ ॥

'ओ' भाव को प्राप्त हुई जो 'ऊष्मा' (विसर्ग) है उसे तो केलि-खेल कह दिया जावे अनायास उच्चारण करने से। विवृत्ति को प्रतीत कराने वाली-विवृत्ति के रूप में आने वाली ऊष्मा (विसर्ग) विकटानना-विकट मुख वाली है। उसके उच्चारण में मुख विकट हो जाता है कुछ रुक कर बोलना होने से ॥४८॥

लोढातिलीढाविघुच शषसेसु प्रकीर्तिताः ।
जिह्वामूले च रेफे च विज्ञेया विकटा शठा ॥ ४९ ॥

श, ष, स, के परे पूर्व ऊष्मा (विसर्ग) जो क्रमशः श्, ष्, स् परिणत हो जाती है वह क्रमशः 'लीढा' अतिलीढा, विद्युत् नाम से कहीं है और जो विसर्ग जिह्वामूल में (जिह्वामूलीय) ≍ क ≍ ख वह विकटा और जो विसर्ग रेफ परे होने पर है वह शठा कहीं गई ॥ ४९ ॥

उपध्मानीय सहिता पुष्पिणीं तां विनिर्दिशेत् ।
अन्यत्र या भवेदूष्मा सुलभां तां विनिर्दिशेत् ॥ ५० ॥

उपध्मानीय ≍ प ≍ फ के सहित ऊष्मा (विसर्ग) जो हो उसे पुष्पिणी कहा जावे पुष्प-फूल खिलने की भांति होठों के खुले होने से, और जो उष्मा (विसर्ग) अन्य है अपने ही रूप में (:) रहने वाली है उसे सुलभा कहाजावे ज्यों की त्यों उच्चरित होने से ॥ ५० ॥

पादाद्यं च पदाद्यं च तथाऽवग्रहकालिकम् ।
सुस्पृष्टं वं विजानीयात् तत्तत्कालनिबन्धनम् ॥ ५१ ॥

पाद आदि में तथा पद के आदि में 'व' अक्षर को सुस्पष्ट अर्थात् होठों को छूकर अवग्रहकाल जितना काल वाला अर्द्ध मात्राकाल के विलम्बन से जाने—उच्चारण में विलम्बन करे, पाद की आदि में जैसे—"वसोः पवित्रमसि" (यजु० १ । २) यहां 'व्वसोः' ऐसा दो वकार वाला उच्चारण करना चाहिए । तथा पद की आदि में जैसे—"देवीरापः शुद्धा वोढ्व ँ सु......"

(यजु० ६ । १३) यहां 'व्योढ्व' दो वकार उच्चारण करना चाहिए ॥ ५१ ॥

पादादौ पदादौ च संयोगावग्रहेषु च यः ।
ज शब्द इति विज्ञेयो योऽन्यः स य इति स्मृतः ॥ ५२ ॥

पाद की आदि में और पद की आदि में तथा संयोग-रेफ हकार मकार के संयोग में [श्लोक ५६ के अनुसार] और अवग्रह में जो 'य' अक्षर है वह 'ज' अक्षर जानना चाहिए उच्चारण में, जो अन्य अर्थात् पाद या पद की आदि से भिन्न वह तो उच्चारण में 'य' अक्षर ही है। पाद की आदि में जैसे-"यज्ञेन......" (यजु० ३१ । १६) पद की आदि में जैसे-"यज्ञेन यज्ञम......" (यजु० ३१ । १६) यहां 'यज्ञम' संयोग "सूर्यः" (यजु० ३ । ६) यहां रेफ के साथ संयोग, "गेह्याय" (यजु० १६ । ४४) यहां हकार से संयोग, "धाम्या रूपम्" (यजु० १६ । २४) यहां यकार के संयोग में, अवग्रह-पदसन्धि और पदवेष्टन में जैसे-"सामान्यृग्भिः......" (यजु० २० । १२) "यज्ञा यज्ञियं......" (यजु० २१ । ४) इसके वेष्टन-दोहराने में पदपाठ काल में 'यज्ञा यज्ञियमिति यज्ञा । यज्ञियम्' यहां 'यज्ञियम्' के यकार का जकार उच्चारण करते हैं ॥ ५२ ॥

वकारस्त्रिविधः प्रोक्तो गुरुर्लघुतरः ।
आदौ गुरु लघुर्मध्ये पदान्ते च लघूतरः ॥ ५३ ॥

वकार तीन प्रकार का कहा है 'गुरु, लघु, लघूतर'। पद की आदि में गुरु-सुस्पृष्टता से-होठों का स्पर्श अच्छा हो तब

वह दो वकारों के रूप में उच्चरित होता है, जैसे-"वायवस्थ" (यजु० १।१) के स्थान पर 'व्वायवस्थ' दो संयुक्त वकारों का उच्चारण होठों के स्पर्श से हो जावेगा। पद के मध्य लघु दो वकार के रूप में नहीं साधारण रूप में जैसे है वैसा ही, पदान्त वकार सन्धि से उत्पन्न लघुतर कहा है, इसके सम्बन्ध में अगले श्लोक में कहा जा रहा है॥ ५३॥

सन्धिजौ च पदान्तीयावुपसर्गपरौ लघू ।
अथ या स न शब्देभ्यो विभाषाऽऽम्रेडिते यवौ ॥ ५४ ॥

सन्धिज-सन्धि से उत्पन्न "इको यणचि" (अष्टा० ६।१।७५) तथा "एचोऽयवायावः" (अष्टा. ६।१।७५) यण् सन्धि वाला वकार और यकार, यहां वकार लक्ष्य है यकार के सम्बन्ध में अगले श्लोक में कहा जाने वाला है वह लघु-पूर्व लघु की अपेक्षा अधिक लघु-लघूतर होता है, जैसे-त्वं वायवृतस्पते" (यजु० २७।३४) यहां 'वायो-ऋतस्पते में सन्धि का वकार है यह अत्यन्त लघु बोला जावेगा--जिह्वा के अग्र-मध्य-मूल भागों को शिथिल हल्का रखते हुए मृदु अल्प उच्चारण होगा। तथा उपसर्ग परे हो तो भी लघूतर उच्चारण होगा एवं 'अथ, या, स, न, शब्दों से परे और आम्रेडित-पुनरुक्त--पद परे होने पर विभाषा--सम्प्रदाय-भेद को लेकर व्यवस्थित विभाषा से होते हुए यकार और वकार। उपसर्ग आदि के विषय में विशेष श्लोक ५६ के पश्चात् "उपसर्गपरौ यस्तु......" में कहेंगे॥ ५४॥

पञ्चमादुत्तरो यो वो यदि नैकपदे भवेत् ।
संहितायां लघुः सोऽथ पदकाले गुरुर्भवेत् ॥ ५५ ॥

वर्गों के पञ्चम अक्षर से उत्तर यकार और वकार यदि उसी पञ्चम अक्षर वाले एक पद-समान पद में न हो किन्तु अन्य पद की आदि में यकार वकार पूर्वपद के अन्त में वर्गों का पञ्चम अक्षर हो तो वह संहिता में लघु होता है पदकाल-संहिता के पदच्छेद में गुरु-सुस्पृष्ट हो जाता है। जैसे-रेवान्यो" (यजु० ३। १९) यहां संहिता में पञ्चम अक्षर नकार से परे पद की आदि में यकार लघु है, पदकाल--पदच्छेद में 'रेवान् यः' यहां यकार गुरु सुस्पृष्ट हो गया। इस प्रकार जहां जहां संहिता में यकार वकार लघु हैं वह सर्वत्र पदच्छेद में गुरु हो जाते हैं ॥ ५५ ॥

हकाररेफसंयुक्त अवर्णोदय एव वा।
सुस्पृष्टं तं विजानीयाद् यकारो नान्ययुग् यदि ॥ ५६ ॥

हकार और रेफ से संयुक्त यकार जिसके परे अवर्ण हो उसे सुस्पृष्ट जकार उच्चारण में जानो, यदि अन्य व्यञ्जन या स्वर से युक्त न हो ॥ ५६ ॥

उपसर्गपरो यस्तु पदादिरपि दृश्यते।
ईषत्स्पृष्टो यथा 'वियत्' पदच्छेदे परो भवेत् ॥

विभाषया यकारश्च नित्यमाम्रेडितेऽपि च।
यत्र यत्रेति मा यज्ञं तथा मेति पदादपि ॥

अथात उत्तरो यः स्यात् तथा नेति पदात् परः।
भवतीत्यपि पूर्वैव तथा च सपदादपि ॥

अथात्वयमादित्यादावथो ये अस्य दृश्यते ।
नयत्परो यथा च स्यात् सपदे तदुदाहृताः ॥

जो उपसर्गपर–उपसर्ग से परे 'य' यकार कहा है वह पद के आदि दृष्ट होता है–मिलता है ईषत्स्पृष्ट 'य' के रूप में उच्चरित होने वाला न कि सुस्पृष्ट 'ज' के रूप में उच्चरित होने वाला जैसे "वियत्" यजु० १२ । ३४) वह पदच्छेद–पदपाठ काल में 'वि' उपसर्ग से परे होता हुआ यकार 'यत्' पद के आदि में है वह पदपाठ काल में तो सुस्पृष्ट अर्थात् 'ज' जकार उच्चारण करना होता है 'वि' यत्–ऐसी स्थिति । उपसर्ग से परे जो पद के आदि में यकार ईषत्स्पृष्ट कहा है वह विभाषा–विकल्प-व्यवस्थित विकल्प जानना अर्थात् पाद के आदि में पदादि तो सुस्पृष्ट अर्थात् जकार के रूप में उच्चरित होगा, केवल पदादि ईषत्स्पृष्ट अर्थात् यकार ही बोला जावेगा, पद के आदि में जैसे "स्तुतो यासि वशाँ अनुयोजा न्विन्द्र ते हरी" (यजु० ३ । ५२) यहां 'योजा' मन्त्र के पाद के आदि में यकार है पूर्व पाद के 'अनु' उपसर्ग से परे, यहां तो नित्य सुस्पृष्ट–जकार उच्चारण होगा, तथा "ऋषीणां च स्तुतीरुप, यज्ञं च मानुषाणाम्" (यजु० ८ । ३५) यहां भी पाद के आरम्भ में 'यज्ञ' का यकार पूर्वपाद के 'अनु' उपसर्ग से परे है अतः यह भी सुस्पृष्ट' जकार के रूप में उच्चरित होगा । पाद के आदि में न होकर पाद के मध्य पदादि यकार हो तो वह ईषत्स्पृष्ट अर्थात् यकार के रूप में ही उच्चरित होगा, जैसे पूर्व 'वियत्' पाद के मध्य में आया था, तथा अन्य उदाहरण "अनु यं विश्वे मदन्त्यूमाः" (यजु० ३३ । ८०) यहां इस पद के मध्य में.

अनु उपसर्ग से परे पदादि 'य' यकार होने से ईषत्स्पृष्ट अर्थात् यकार ही बोला जायगा। तथा आम्रेडित-समान दो वचनों में या द्विरुक्ति में पर भाग आम्रेडित कहलाता है उसके परे होने पर यकार यकार नित्य ईषत्स्पृष्ट-यकार के रूप में उच्चरित होगा। जैसे-"यत्र यत्र" (यजु० २९। ४३) यहां पूर्व 'यत्र' का यकार ईषत्स्पृष्ट-यकार के रूप में ही उच्चरित होगा। और 'मा' इस पद से परे भी यकार सुस्पृष्ट अर्थात् जकार रूप में उच्चरित होगा, जैसे "मा यज्ञम्" (यजु० ५। ३)॥

अथ शब्द से परे जो यकार है और 'न' से परे जो यकार है वह भी व्यवस्थित विकल्प से सुस्पृष्ट जकार के रूप में उच्चरित होगा। तथा सकार से परे व्यवस्थित विकल्प से ईषत्स्पृष्ट होगा। इसी प्रकार वकार भी। अथ से परे अगले श्लोक में यकार वकार का उदाहरण आने वाला है। नकार से परे जैसे "मनो न येषु" (यजु० ७।१७) सकार से परे "स यन्ता" (यजु० ६। २९) वहां नित्य सुस्पृष्ट-जकार उच्चरित होता है॥

अथ शब्द से परे यकार यजुर्वेद में नहीं है, अथ शब्द से परे वकार तो यजुर्वेद में मिलता है, जैसे "अथा वयमादित्य" (यजु० १२। १२)

"नयत्परो......" (यजु० २०। ८२) यहां भी यकार का सुस्पृष्ट-जकार उच्चारण नित्य है तथा इस जैसा 'णी-नी' धातु के प्रयोग में भी समझें जैसे "नयन्तु नः" (यजु० ३७। ७)

यदेव लक्षणं यस्य वकारस्यापि तद्भवेत्।
यत्र यत्र विशेषः स्यादिदानीं स स कथ्यते॥

त्वदर्थवाचिनौ वो वां, वा वै यदि निपातजौ ।
आदेशाश्च विकल्पार्था ईषस्पृष्टास्तु ते स्मृताः ॥

जो लक्षण यकार का है वकार का भी वैसा लक्षण सुस्पृष्ट या ईषत्स्पृष्ट का होता है, जहां जहां विशेष है अब वह वह कहा जाता है ॥

त्वदर्थ-युष्मदर्थ-तुम पुरुष के अर्थ देने वाले 'वः', 'वां' क्रमशः द्वितीया चतुर्थी षष्ठी विभक्ति में युष्मद् के अन्वादेश बहुवचन 'वः' और द्वितीया चतुर्थी षष्ठी विभक्ति में युष्मद् का अन्वादेश द्विवचन 'वां' "युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थी द्वितीयास्थयोर्वान्नावौ" (अष्टा० ८ । १ । २०) तथा 'वा' वै निपातज-निपात में और आदेश हुए "इको यणचि" (अष्टा० ६।१।७४) तथा "एचो अयवायावः" (अष्टा० ६ । १ । ७५) 'य, व' ये विकल्पार्थ ये सब ईषत्स्पृष्ट स्मरण किये हैं । जैसे "दे॒वो वः॑ सवि॒ता" (यजु० १ । १) यहां 'वः॑' पदादि होने से सुस्पृष्ट है जकार रूप में बोले जाने वाला है । "या वां॒ कशा॒" (यजु० ७ । ११)। यहां ईषत्स्पृष्ट है। "वातो॑ वा॒" (यजु० ६ । ७) ईषत्स्पृष्ट । "मि॒त्रा वरु॑णनेत्रा वा म॒रुन्नेत्रा वा" (यजु० ६ । ३६) विकल्प से ईषत्स्पृष्ट हैं । "वै" जैसे "न वा उ॑ एतन्म्रियसे॒" (यजु० २३ । १६) ॥

"उपांशु स्वप्तिः" इस श्लोक से लेकर "अन्नव्यञ्जन···" श्लोक पर्यन्त १५ श्लोक अप्रासङ्गिक लेखक प्रमाद से पढे हैं ये श्लोक प्रकीर्णक स्थल में इसी पुस्तक में आगे अध्येतृ धर्म-

पढ़ने वालों के धर्म वर्णन में ९८ से ११५ श्लोक तक पढ़े हैं वहीं इनका पाठ और अर्थ देंगे।

हकारं पञ्चमैर्युक्तमन्तस्थाभिश्च संयुतम् ॥
औरसं तं विजानीयात् कण्ठ्यमाहुरसंयुतम् ॥ ५३॥

हकार को वर्गों के पञ्चम अक्षरों 'ङ, ञ, ण, न, म" से संयुक्त तथा अन्तस्थ 'य, र, ल, व' से भी संयुक्त हो तो औरस-उरः स्थान छाती से-कण्ठ के नीचे से बल लगाकर उच्चारण करने योग्य है जैसे "ब्रह्मणे ब्राह्मणम्" (यजु० ३०।५) "गेह्याय च" (यजु० १६।४४) और जो हकार इनसे संयुक्त न हो तो उसे कण्ठ्य कण्ठ से उच्चारण करने योग्य कहते हैं।

हकारो यत्र पूर्वस्थो ह्यन्तस्थाद्यो भवेत् परः।
पदकाले वियुज्येत संहितायां स औरसः॥ ५८॥

जहां अन्तस्थ से पूर्वस्थित, हकार हो परे-हकार से परे यकार हो तो वह हकार संहिता-मन्त्र में औरस उरः स्थल से उच्चारण करने योग्य है परन्तु पदकाल पदपाठ-पदच्छेद में अकार से अलग अक्षर समझना चाहिये संयुक्त नहीं' तब वह कण्ठ्य ही रहेगा। जैसे सिꣳह्यसि" (यजु० ५।१०) यहां संहिता में औरस है तथा 'सिꣳही। असि' यहां पदपाठ में हकार कण्ठ्य रहेगा॥ ५८॥

अथ वर्णोच्चारणविधिः।

मेघदुन्दुभिनिर्घोषो ज्ञायते पयसा ह्रदात्।
एवं नादः प्रयोक्तव्यः सिंहस्य रुदतं यथा॥ ५९॥

मासे भाद्रपदे मेघाः शब्दं कुर्वन्ति यादृशम् ।
एवं गह्वरमासाद्य 'शुक्रं दुदुह्रे' दर्शनम् ॥ ६० ॥

पूर्व से औरस हकार चल रहा उसके उच्चारण का प्रकार दर्शाते हैं-मेघ का दुन्दुभि-नगारे का और जलाशय से गिरते या टकरा कर चलते जल का घोष-अव्यक्त ध्वनि रूप शब्द जैसा हो ऐसा औरस हकार के उच्चारण में नाद करना चाहिये या जैसे सिंह का गर्जन-धड़क हो। यह ऐसा उच्चारण हकार पञ्चम अक्षर के संयोग में सम्भावनीय है। अगले श्लोक में अन्तस्थ के योग में अथवा संविधान होने से। हकार का पञ्चम के साथ योग का स्थान या उदाहरण मकार के योग में 'ह्म' ही उपलब्ध होता है। भाद्रमास में मेघ जैसा शब्द करते हैं ऐसा औरस हकार का उच्चारण करे। यहां अन्तस्थ यकार लकार वकार के योग की सम्भावना है, रेफ का उदाहरण अगली पंक्ति में आने से। इसी प्रकार गह्वर-कन्दरा में बैठ कर जैसे शब्द का धक्का सा होता है है ऐसा उच्चारण करे जैसे "दुदुह्रे" (यजु० ३। १६) अन्तस्थ के योग में शेष "गेह्याय" (यजु० १६। ४४) यह यकार के योग में है किन्तु लकार के योग में यजुर्वेद में प्रयोग नहीं है "ह्लादिके" (ऋ० १०। १६। १४) "ह्लादते" (अथ० वे० १८।३।६०) और वकार के योग में "ह्वार्षीत्" (यजु० १। २)

शाखायां वानरा यद्वन्निपतन्त्युत्पतन्ति च ।
एवं वर्णाः प्रयोक्तव्या इहैहैषां निदर्शनम् ॥ ६१ ॥

बन्दर जैसे शाखा पर 'उत्पतन्ति' चढ़ते "निपतन्ति" उतरते हैं वैसे वर्णों का उच्चारण करना चाहिये। उच्चारण में उतार

चढ़ाव उदात्त आदि की दृष्टि से होगा "इ॒हेहैषां" (यजु०१०।३२) यहां प्रथम 'इ॒' अनुदात्त नीचा स्वर पुनः 'हे' उदात्त ऊंचा स्वर पीछे 'है' स्वरित उससे नीचे है बिना विराम के उच्चारण करना चाहिये ॥ ६१ ॥

कुक्कुटः कामलुब्धो यः ककारद्वयमुच्चरेत् ।
एवं वर्णाः प्रयोक्तव्याः कुक्कुटोसीतिदर्शनम् ॥ ६२ ॥

'कुक्कुट--मुर्गा जैसे कामातुर होकर मुर्गी के पीछे कुक् कुक् एक कुक् पर कुछ रुक कर दूसरे 'कुक्' को बोलता है ऐसे समान अक्षर के संयोग पर प्रथम को पूर्व स्वर (अच्) के साथ मिला कर बोल कर किञ्चित् रुक कर दूसरे समान अक्षर को स्थान करण का विच्छेद न करके बोलना चाहिये जैसे "कु॒क्कु॒टोसि" (यजु० १। १६)

यथा पुत्रवती स्नेहाच्चुम्बते निजमौरसम् ।
एवं वर्णाः प्रयोक्तव्या युञ्जान इति दर्शनम् ॥ ६३ ॥

जैसे बाल पुत्र वाली स्त्री अपने बाल पुत्र को स्नेह से चूमती है होठों को गोल रुप में खोल कर ऐसे वर्ण उच्चारण करने चाहिये "यु॒ञ्जा॒नः" (यजु० ११। १) चवर्ग पञ्चम का स्ववर्गीय अक्षर से संयोग होने पर ऐसे अक्षर के उच्चारण में जिह्वाग्र को दन्त मूल के नीचे हुआ जिह्वा मध्य से तालु के मध्य को छूकर अकार के उच्चारण में मुख को या होठों को गोल रूप में खोलना चाहिये ॥ ६३ ॥

वडवा च हयं दृष्ट्वा योनिं विकुरुते यथा।
एवं वर्णाः प्रयोक्तव्याः 'स दुन्दुभे' निदर्शनम् ॥ ६४ ॥

जैसे घोडे को देख कर घोडी योनि का सङ्कोच और विकास करती है-खोलती सुकेडती है ऐसे पञ्चम वर्ण से संयुक्त हुआ अक्षर बोला जाता है, जैसे "दुन्दुभे" (यजु० २६।५६) यहां उदाहरण में दकार और नकार के योग में उदाहरण जाने ॥ ६४ ॥

दर्दुरोदरदेशौ तु प्रफुल्लेते पुनर्यथा।
एवं वर्णाः प्रयोक्तव्याः ऽअपाम्फेने निदर्शनम् ॥ ६५ ॥

जैसे मेण्डक उदरभागों को पुनः फुला लेता है, इस प्रकार वर्ण वर्ण बोलने चाहिए "अपाम्फेनेन" (यजु० १६ । ७१) मुख को कुछ फुला कर पञ्चम वर्ण बोले स्ववर्गीय अक्षर से मिले हुए को ॥ ६५ ॥

यथा भारभराऽऽक्रान्ता निश्वसन्ति नरा भुवि।
एवं वर्णाः प्रयोक्तव्याः-अद्भ्यः सम्भृतः-इत्यपि ॥६६॥

जैसे भार धारक-भार उठाने वाले जन थके घबराए हुए भूमि पर ठहर कर मुख खोलकर श्वास लेते हैं ऐसे विसर्ग वाले अक्षर बोलने चाहिए, जैसे "अद्भ्यः सम्भृतः" (यजु० ३१।१७) उदाहरण है ॥ ६६ ॥

यथा कामातुरा नारी शब्दं कुर्याद् दिने दिने।
तच्छब्दं कुरुते प्राज्ञः स९ग्रति' निदर्शनम् ॥ ६७ ॥

जैसे कामातुर स्त्री प्रतिदिन रात्रि में कराहट-आहभरी ध्वनि करती है ऐसे विद्वान् शब्द करता है अनुस्वार वाले अक्षरों के उच्चारण में, जैसे "सिꣳह्यसि" (यजु० ५।१२) यहां 'सि' ह्रस्व गुरु और अनुस्वार का उच्चारण भी दीर्घ आह की भांति करना होता है ॥ ६७ ॥

पक्षौ वितत्य खे गृध्रो भ्रान्त्या सङ्कुच्य तिष्ठति ।
एवं वर्णाः प्रयोक्तव्या वार्द्ध्रीनसो निदर्शनम् ॥ ६८ ॥

गृध्र पक्षी आकाश में पंख खोल भ्रमण करके फिर सङ्कुचित ठहर जाता है ऐसे वर्ण दीर्घ गुरु अक्षर बोले, जैसे "वार्द्ध्रीनसः" (यजु० २४ । ३६) ॥ ६८ ॥

रङ्गे चैव समुत्पन्ने नो ग्रसेत् पूर्वमक्षरम् ।
स्वरं दीर्घं प्रयुञ्जीत पश्चान्नासिक्यमुच्चरेत् ॥६९॥

रङ्ग अर्थात् जो नकार मकार के विकार से उपधा के अनुनासिक होने पर पूर्व अक्षर को अनुस्वार जैसा (ँ) गुरु करने से शीघ्र न उच्चारण करे, प्रथम पूर्व स्वर को दीर्घ विलम्बित करे पश्चात् अर्धानुस्वार रङ्ग का उच्चारण करे ॥ ६९ ॥

यथा सौराष्ट्रिका नारी अराँ२॥ इत्यभिभाषते ।
एवं रङ्गाः प्रयोक्तव्यो ङ्कार परिवर्जितः ॥ ७० ॥

जैसे सौराष्ट्र वासी स्त्री 'अराँ२॥ ऐसा शब्द सम्बोधन में बोलती है, ऐसा रङ्ग-अर्द्ध अनुस्वार बोलना चाहिए, ङ्कार श्रुति से रहित-ङ्कार जैसा न बोले ॥ ७० ॥

द्विमात्रिको मात्रिको वापि नासिकामूलं समाश्रितः ।
अन्ते-प्रयुज्यते रङ्गः पञ्चमैः सर्वनासिकः ॥ ७१ ॥

रङ्ग-अर्द्ध अनुस्वार दो मात्रा वाला या एक मात्रावाला भी नासिका मूल को प्राप्त होकर अन्त में बोला जाता है; पञ्चम' अक्षरों के साथ सारी नाक से बोला जाता है, दो मात्रा वाला-दो स्वरों के मध्य में अनुनासिक हो और रेफ से व्यवहित हो, जैसे "शत्रूँ॥रप" (यजु० ७ । ३७) तथा "लोकाँ॥अकल्पयन्" (यजु० ३१ । १३) एक मात्रा वाला रङ्ग स्वर व्यञ्जन के मध्य में ऊष्म अक्षरों से व्यवहित नासिक्य होगा, जैसे "यामैरयँश्चन्द्रमसि" (यजु० २ । २८) इस प्रकार नासिक्य मूल दोनों भ्रुवों के मध्य में जानना । वर्गों के अन्तिम पञ्चम अक्षरों के साथ हुआ रङ्ग नकार मकार के विकार से उत्पन्न उनके लोप से हुआ सर्व नासिका में उच्चरित होता है ॥ ७१ ॥

अनन्तरं मकारस्य यो रङ्गस्तत्र रज्यते ।
सर्वानुनासिकं विद्यादेषा मन्योपधानिका' ॥ ७२ ॥

मकार के अनन्तर जो रङ्ग प्रयुक्त होता है वह सारी नासिका में बोला जाने वाला उपधानिका' नाम से मानना चाहिए ॥ ७२ ॥

---

१ मूल पाठ में 'मध्योपधानिका' हिन्दी भाष्य सहित में 'वध्योपधानिका' ये दोनों अपपाठ है प्रथमान्त की असङ्गति से, विद्यात् कियातो 'सर्वानुनासिकं' कर्म पर चरितार्थ हो जाती है पुनः 'एषा' प्रथमा 'मन्या' से चरितार्थ होती है । आगे उसके आश्रय भूत शष 'स, ह, र' उपधानी है ।

यरलवाः शषसहा अष्टैते चोपधानिनः ।
वर्गान्ते रज्यते यस्तु सर्वैः सर्वानुनासिकः ॥ ७३ ॥

'य, र, ल, व' मे अन्तस्थ 'श, ष, स, ह' ऊष्म ये सब आठ उपधानी हैं-उपधा को अनुनासिक्य करने वाले हैं ये आठों वर्गान्त-वर्गों के अन्तिम अक्षरों से रञ्जित होते, नासिका में 'अनुरक्त होते हैं' परन्तु मकार के अनन्तर रङ्ग-उपधानिका तो अनुस्वार ह्रस्व ँ दीर्घ ँ नाम से, नकार के अनन्तर अर्द्ध अनुस्वार ँ छुप जाने से जैसे मकार के अनन्तर जो 'श, ष, स, ह, र' परे होने पर "सꣳशिवेन" (यजु० २।२४) "यज्ञपतिꣳ सुधातुं" (यजु० १।१२) "शतꣳहिमा" (यजु० ३।१८) "अक्षाꣴहविषा" (यजु० २।२२) "हव्यꣳरक्ष" (यजु० १।१४) 'य, ल, व' परे होने पर नहीं होता पर सवर्ण अनुनासिक हो जाता है "तँल्लोकम्" (यजु० ४०।२५)-"सँव्वपामि" (यजु० १।२८) नकार के अनन्तर हो तथा रङ्ग अर्द्ध अनुस्वार अनुनासिक ही होता है "अहीꣳश्च" (यजु० १६।५) "अन्याँस्त" (यजु० १७।११) ॥ ७३ ॥

नस्त उत्पद्यते रङ्गः कांस्येन समनिःस्वनः ।
मृदुश्चैव द्विमात्रः स्याद् वृष्टिमाँ२॥ इव दर्शनम् ॥७४॥

रङ्ग-अनुनासिक नासिका उच्चरित होता है कांसी के पात्र की गूञ्जध्वनि जैसी करनेवाला और मृदु हो दो मात्रा

१ 'अनुस्वार हो श, ष, स, ह, र, परे होने पर होता है तो अनुस्वारस्तु कर्तव्यो नित्यं होः शष सु षु च' (पाणिनीय शि० २३)

वाला दीर्घ काल तक होने वाला जैसा पाणिनीय शिक्षा में कहा है "हृदये चैकमात्रस्तु अर्धमात्रस्तु मूर्धनि । नासिकायां तथार्द्धं च रङ्गस्यैवं द्विमात्रता।" (पा० शि० २८) जैसे-"वृष्टिमाँ२।। इव" (यजु० ७। ४०) ॥ ७४ ॥

यादृशी रत्नवर्णाभा जपायाः कुसुमे यथा ।
तादृशं रञ्जयेत् वर्णं प्रान्ते नासिक्यमाचरेत् ॥७५॥

जैसी लाल रत्नमणि की आभा-लालिमा जैसे जपाकुसुम्-हुड हुड-गुढल फूल की लालिमा है प्रान्त भाग में गहरी लालिमा है वैसे वर्ण-उपधा स्वर को अन्तिम देश में नासिक्य करदे स्वर के अन्त में अर्ध अनुस्वार उपधा को ही सारी नासिका में न करके बोले, जैसे "मा॒थँस्पर्चन्या" (यजु० २५। ३६) ॥ ७५ ॥

लाक्षारक्तं यथा तोयं नकारान्तं पदं तथा ।
सर्वं रङ्गं विजानीयाच्छत्रूनिति निदर्शनम् ॥ ७६ ॥

लाख से रक्त-लाल बना जल जैसे हो जाता है वैसे ही नकारान्त पद को सब 'रङ्ग' संज्ञा वाला जानना चाहिए। इस से रेफान्त रङ्ग है ऐसा स्वर परायण इसको भी कहा, है, जैसे-"ज॒हि श॒त्रूँ।।रप" (यजु० ७। ३४) "शत्रून् परिधीन् क्रतून् वनस्पतीन् स्वरे रेफम्" (यजु० प्राति० ३। १४२) इससे नकार का रेफ हो जाने पर उपधा-नासिक्य करने पर 'शत्रून्' यह पद रङ्ग [शत्रूँ॥रप] है ॥ ७६ ॥

लुप्ते नकारे यत्स्वारं रञ्जन्ति शौनकादयः ।
एवं रङ्गं विजानी यान्नाभ्याऽऽसीन्निदर्शनम् ॥७७॥

नकार लुप्त हो जाने पर शौनक आदि आचार्य जिस स्वर को रञ्जित करते हैं-'रङ्ग' नाम से व्यवहृत करते हैं वह इस प्रकार जाने "ःनाभ्या आसीत्" इस मन्त्र में दिया हुआ लोकाँ॥ अंकल्पयन्" (यजु० ३१ । १३) उदाहरण है ॥७७॥

पञ्च रङ्गाः प्रवर्तन्ते घातनिर्घातवज्रिणः ।
अहिणः प्रहिणो ज्ञेय आ–ई–ऊ–ऋ–ओ दर्शनम् ॥७८॥

पांच रङ्ग प्रवृत्त होते हैं 'घात, निर्घात, वज्री, अहिण, प्रहिण । 'आ, ई, ऊ, ऋ, ओ' ये परे क्रमशः हो, जैसे–घात–"देवाँ२॥ आसादयादिह" (यजु० २२।१७) निर्घात–"देवाँ२ इदेषि" (यजु० २३ । १६) वज्रीदेवाँ २॥ उपांग।" (यजु० ५ । ३६), अहिण–"देवाँ २॥ ऋतुभिः" (यजु १८ । २३), प्रहिण–"अमित्राँ २ ॥ ओषतात्" (यजु० १३ । १२) ॥७८॥

यथा व्याघ्री हरेत् पुत्रान् दंष्ट्राभिर्न च पीडयेत् ।
भीतापतनभेदाभ्यां तद्वद्वर्णान् प्रयोजयेत् ॥ ७९ ॥

जैसे सिंहनी अपने बच्चों को ले जाती है डाढों से पीडा नहीं पहुंचाती गिरने दष्ट होने से डरी हुई ऐसे वर्णों का उच्चारण करे न शिथिल रूप से न दवा कर, शिथिल करने से रङ्ग का उच्चारण ङकार हो जावेगा और दबाने से मकार हो जावेगा जो दोनों अभीष्ट नहीं है ॥ ७९ ॥

मधुरं च न चाव्यक्तं व्यक्तं चापि न पीडितम् ।
सनाथस्येव देशस्य न वर्णाः सङ्करं गताः ॥ ८० ॥

मधुर बोलते हुए अस्पष्ट-अप्रकट न बोले, स्पष्ट बोलते हुए पीडित कर दबाकर न बोले, जैसे अच्छे राजा के देश में वर्ण ब्राह्मण आदि सङ्कर-वर्ण सङ्करता-सङ्कीर्णता को प्राप्त नहीं होते ॥ ८० ॥

"ँ ँ" इनका नाम स्वरूप और उच्चारण

ह्रस्व और दीर्घ के भेद से इनके नाम क्रमशः ह्रस्व अनुस्वार, दीर्घ अनुस्वार है। यह यजुर्वेदीया याज्ञवल्क्य शिक्षा में कहा है—

वर्णेतु मात्रिके पूर्वे ह्यनुस्वारो द्विमात्रिकः ।
द्विमात्रिके मात्रिकः स्यात् संयोगाद्यश्च यो भवेत् ॥
अनुस्वारस्योपरिष्टात् संयोगो यत्र दृश्यते ।
ह्रस्वं तं विजानीयात् सँ स्थामिति दर्शनम् ॥

(यजु० याज्ञवल्क्य शि० वर्ण प्र० ४२, ४३)

ह्रस्व के पश्चात् दीर्घ अनुस्वार (ँ) होता है, जैसे "माघशंँसो···" (यजु० १।१) दीर्घ स्वर के पश्चात् ह्रस्व अनुस्वार (ँ) होता है जैसे "त्वाँहि" (यजु० ३३। १३) संयोग की आदि में अथवा संयोग परे होने पर अनुस्वार दीर्घ ही होता है। उससे पूर्व ह्रस्व के गुरु हो जाने पर भी जैसे सँस्थाम्" (यजु० १६। २८)।

इस प्रकार दोनों अनुस्वार नकार मकार के स्थान में "नश्चापदान्तस्य झलि-अनुस्वारः" (अष्टा० ८। ३। २४)

से पदान्तर्गत ह्रस्व अनुस्वार ꣳ और दीर्घ अनुस्वार ꣴ इस रूप से वेद में स्थिर किया है।

तथा—

अनुस्वारो द्विमात्रः स्याद्वर्णव्यञ्जनादिगः ।
ह्रस्वाद् वा यदि वा दीर्घाद् देवानाꣴहृदये यथा ॥

(यजु० याज्ञवल्क्य शि० वर्ण प्र० ४४)

ऋवर्ण वाले व्यञ्जन के आदि में अर्थात् ऋवर्ण वाले व्यञ्जन से पूर्व अनुस्वार तो दो मात्रा वाला अर्थात् दीर्घ अनुस्वार ꣴ होता है चाहे वह स्वर से परे हो या दीर्घ स्वर से परे हो, जैसे "देवानाꣴहृदये" (यजु० १६ । ४४)

यह अनुस्वार तो "मोऽनुस्वारः" (अष्टा० ८ । ३ । २३) से पदान्त मकार का दीर्घ अनुस्वार ꣴ है। पदान्त में तो मकार का ही ह्रस्व या दीर्घ अनुस्वार होता है, ७३ वें श्लोक से 'श, ष, स, ह, र' इन अक्षरों के परे होने पर जहां कि अनुस्वार ही होता है। कारण कि अन्यत्र तो उसका परसवर्ण हो जाता है। पदान्तर्गत नकार या मकार का ꣳ ह्रस्व अनुस्वारया ꣴ दीर्घ अनुस्वार कहलाता है परन्तु पदान्त मकार का अनुस्वार ह्रस्व या दीर्घ तो 'उपधानिका' नाम से भी कहा जाता है। पदान्त मकार का जैसे "सꣴशिवेन" (यजु० २ । २४) "यज्ञपतिꣴ सुधातुं" (यजु० १ । १२) "शतꣴहिमा" (यजु० ३ । १८) "अक्राꣳहविषा" (यजु० २ । २२) "हव्यꣴरक्ष" (यजु० १ ।४) 'ꣳ ꣴ' इनका या उच्चारण 'ग्वङ्' नहीं है। याज्ञवल्क्य शिक्षा के संस्कृत भाष्यकार अमरनाथ शास्त्री ने भी कहा है कि

"ये च गणपतिग्ग्वङ्घवामहेइत्युच्चारयन्ति तेऽनधीत विद्याः प्रतिशाख्यानभिज्ञाश्च" (याज्ञवल्क्य शि० वर्ण-प्र० ४२) अर्थात् जो 'गणपतिग्ग्वङ्घवऽमहे' ऐसा उच्चारण करते हैं वे विद्याध्ययन से रहित प्रतिशाख्य से अनभिज्ञ हैं। पदान्त नकार का न ह्रस्व और न दीर्घ अनुस्वार होता है किन्तु ँ इस चिह्न से रङ्ग, या अर्द्ध अनुस्वार नाम से कहा जाता है जो कि व्याकरण में "नश्छव्यप्रशान्" (अष्टा० ८। ३। ७) इस सूत्र से अनुनासिक नाम से विधान किया जाता है। जैसे- "अ॒ही॑श्च॒" (यजु० १६।५) "अ॒न्याँस्ते॑" (यजु० १७।११)॥

ꣳ इस ह्रस्व अनुस्वार का, ँ इस दीर्घ अनुस्वार का उच्चारण तो "प्रान्ते नासिक्यमाचरेत्" (याज्ञवल्क्य शि० वर्ण प्र० ७५ अन्तिम भाग नासिका में उच्चारित करे उसके अनुस्वार होने से "म॒।ꣳस्पचं॑न्या" (यजु० २५। २६) "चत्वा॒रि॒ꣳशच्च॑" (यजु० १८।२५) "व्य॒क्कꣳस्त" (यजु० २।२५) "अनन्तरं मकारस्य .... सर्वानुनासिक्यं विद्यात्" (याज्ञवल्क्य० शि० वर्ण प्र० ७२) मकार का अनुस्वार सर्वनासिका में बोला जावे "सꣳशि॒वेन॑" (यजु० २। २४) "दे॒वा॒ना॒ꣳहृदये" (यजु० १६। ४४) "अङ्गाꣳहविषा॑" (यजु० २। २२) अनुस्वार का स्थान नासिका मूल कण्ठ तक है "कण्ठ्यनासिक्यमनुस्वारमित्येके" (पाणिनीय शिक्षा) ꣳ ह्रस्व अनुस्वार, ँ दीर्घ अनुस्वार कण्ठ नासिका-स्थान वाला कुछ आचार्य मानते हैं। "चत्वारिꣳशत्" इसके स्थान पर

'चत्वारिंग्शत्' यह उच्चारण दृष्टि से प्रयोग मिलता है (भरद्वाज प्रणीत वैमानिक प्रकरण विमान रहस्य) अतः यह 'ग्वङ्' करके उच्चारण करना नहीं चाहिये किन्तु सर्वनासिका में या नासिकामूल कण्ठ के समीप में उच्चारण करना चाहिये।

इति



अथ पदाधिकारः।

++卐++ ++卐++

तत्र पदोच्चारणे विशेषः—

यथा सुमत्तनागेन्द्रः पदात् पदं निधापयेत्।
एवं पदं पदाद्यन्तं दर्शनीयं पृथक् पृथक् ॥८१॥

जैसे सुहर्षित[1] महान् गम्भीर हाथी पद पैर के पश्चात् दूसरा पैर क्रमशः रखता है इसी प्रकार वक्ता के द्वारा पद-वाक्य के चरण-अवयवरूप अर्थवान् शब्द को पद का आदि और पद का अन्त पृथक् दर्शाना चाहिए एक पद के पश्चात् दूसरे पद के उच्चारण में एक मात्रा काल का अन्तर रख कर उच्चारण करे. जैसे पीछे कहा है "पदयोरन्तरे काल एकमात्रा विधीयते" (याज्ञ० शि० स्वर० (३)॥ १८॥

गीती शीघ्री शिरः कम्पी यथा लिखितपाठकः।
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाधमाः ॥८२॥

गीती—गीतवान्—अक्षर को उसके मात्राकाल से लम्बा करके पढ़नेवाला, शीघ्र पढ़ने वाला—केवल अभ्यास काल में तो शीघ्र बोलकर पाठस्मरण करे उससे भिन्न काल में शीघ्र पाठ दोषयुक्त है यह पीछे कहा भी है "अभ्यासार्थे द्रुतां वृत्तिं प्रयोगार्थे तु मध्यमाम्। शिष्याणामुपदेशार्थे कुर्याद् वृत्तिं

---

१ मदी हर्ष ग्लेपनयोः' (भ्वादि०) 'सुः पूजायाम्' (अष्टा०) प्रमाणात् हर्षोऽत्रार्थः।

विलम्बिताम् ॥" (याज्ञ० शि० स्वर० ४६), शिरः कम्पी-शिर को कम्पाकर बोलने वाला-झूम झूम कर बोलने वाला जैसे यवन क़ुरान पढ़ते हुए शिर हिलाते हैं, लिखे जैसे पढ़ने वाला, शुद्ध-पाठ का न जानने वाला-अशुद्ध लिखे को भी वैसा ही पढ़ने वाला, अर्थ ज्ञान से रहित जन, थोड़े कण्ठ वाला, न्यून उच्चारण शक्तिवाला, ये छः पाठक निन्दित हैं ॥८२॥

माधुर्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः ।
धैर्यं लयसमर्थं च षडेते पाठके गुणाः ॥ ८३ ॥

उच्चारण में मधुरता, पृथक् पृथक् अक्षर का स्पष्ट उच्चारण, पदच्छेद सुन्दर स्वर-मृदु लहर युक्त, धैर्य, मात्रानुसार उच्चारण, ये छः गुण पढ़ने वाले में होने चाहिये ॥ ८३ ॥

आचार्याः सममिच्छन्ति पदच्छेदं तु पण्डिताः ।
स्त्रियो मधुरमिच्छन्ति विक्रुष्टमितरे जनाः ॥ ८४ ॥

आचार्यजन सम-सर्व-सब अर्थात् मन्त्र, पद, पद में धातु प्रत्यय का संस्कार-आगम अपचय विकार, कृत तद्धित समास आदि सहित मन्त्र पाठ को चाहते हैं। पण्डित जन पदच्छेद-पद के अर्थमात्र को चाहते हैं उसके संस्कार या निर्वचन में रुचि नहीं रखते कि 'वह्निः' शब्द का अर्थ अग्नि है परन्तु क्यों या कैसे से प्रयोजन नहीं, स्त्रियां तो मन्त्रपाठ की मधुरता को ही चाहती हैं पद या मन्त्र के अर्थ से कोई प्रयोजन नहीं है इतर-जनसाधारण तो श्रद्धा के कारण ऊंचा उच्चारण मात्र को ही चाहते हैं कि वेद पाठ हो रहा है उसका सुनना मात्र पुण्य समझते मानते हैं ॥ ८४ ॥

आवर्तते पदं यच्च द्विस्त्रिराम्रेडितं हि तत् ।
यथा च धाम्ने धाम्ने यजुषे यजुषे अपि च ॥ ८५ ॥

जो पद पुनः आवर्तित हो 'दो अक्षर वाला या तीन अक्षर वाला' (अमर नाथ शास्त्री) वह आम्रेडित कहलाता है, जैसे "धाम्नें धाम्ने मे भव यजुंषे यजुषे" (यजु० १ । ३०) 'द्विः, त्रिः' शब्दो का दो अक्षर वाला तीन अक्षर वाला अर्थ करना संस्कृत भाष्यकार पं० अमर नाथ शास्त्री द्वारा चिन्तनीय है। प्रथम तो 'द्विः त्रिः' ये द्वि और त्रि शब्दों से "संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने ··· द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्" (अष्टा० ५ । ४ । १८) सुच् प्रत्यय क्रियाभ्यावृत्ति गणना में है अक्षर गणना में नहीं। पुनः वेद में एक अक्षर और तीन अक्षर से अधिक अक्षर वाले पद की भी आवृत्ति होती है, जैसे-एक अक्षर "प्र प्र वयममृतं" (यजु० २७ । ४२) "प्रसमुपोदः पादपूरणे" (अष्टा० ८।१।६) से तीन अक्षर से अधिक आम्रेडित 'माणवक माणवक, घातयिष्यामि घातयिष्यामि' वेद में "हविंष्कृदेहि हविंष्कृदेहिं" (यजु० १ । १५) तथा 'त्रिः' तीन वार आवृत्ति "ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः" (तै० उप० २ । १) वेद में तीन वार आवृत्ति "असावेह्यसावेह्यसावेहिं" (यजु० ३८ । २) तथा "स्वाहेन्द्रंवत् स्वाहेन्द्रंवत् स्वाहेन्द्रंवत्" (यजु० ३८।४)॥८५॥

हीयते वर्धते वापि पदं यच्च कृशोदरम् ।
उपचारः स विज्ञेयः, उभे सुश्चन्द्र दर्शनम् ॥ ८६ ॥

परस्पर योग से पद हीन भी हो जाता है और जो कृशोदर-न्यूनमध्यभाग वाला होता है वह बढ़ भी जाता है। यह 'उपचार' नाम से कहलाता है, जैसे-"उभे सुश्चन्द्र" (यजु० १५।४३) यहां "चन्द्रे सु शकारेण" (यजु० प्राति० ३।५४) 'सु चन्द्र' के मध्य में शकार बढ़ गया। इसी प्रकार "वनर्षदः" (यजु० ३३।१) में "वनसदोऽवेटोरेफेण" (यजु० प्राति० ३।४६) से 'वन सदः' के मध्य में रेफ बढ़ गया। तथा "विश्पतीव" (यजु० ३३।४४) यहां 'विश्पतीऽइव' मिलने पर दीर्घसन्धि से मात्राओं से हीन हो गया, इसी प्रकार वृष्टिमाँ२॥ इव" (यजु० ७।४०) यहां 'वृष्टिमान्' शब्द 'रङ्ग' से सङ्कुचित हो गया ॥ ८५ ॥

प्रथमे न षकारेण सकारेणैव संयुतम् ।
एतत् स्वरं समासाद्य अग्निष्वात्ता निदर्शनम् ॥ ८७ ॥

प्रथम पाठ में-स्वपद रूप में षकार से नहीं, किन्तु सकार से संयुक्त है, एतत्-इस षकार निमित्तक स्वर 'इकार' को प्राप्त करके षकार हो जाता है, जैसे-"अग्निष्वात्ताः" (यजु० १६।५८) जैसा कि यजुर्वेद के प्रातिशाख्य में भी कहा है "भाविभ्यः स ष समानपदे" (यजु० प्राति० ३।५३) ॥८७॥

प्रथमे न ठकारेण थकारेणैव संयुतम् ।
एतत् स्वरं समासाद्य अधिष्ठानं निदर्शनम् ॥ ८८ ॥

प्रथम पाठ में-स्वपद रूप में ठकार से नहीं किन्तु थकार से युक्त है, इस ठकार निमित्तक स्वर 'उपसर्ग के इकार' को प्राप्त

करके षकार हो जाता है, जैसे-"अधिष्ठानम्" (यजु० १७।१८) ॥ ८८ ॥

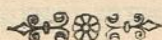
प्रथमे न णकारेण नकारेणैव संयुतम् ।
एतदक्षरं समासाद्य त्रिणवेति निदर्शनम् ॥ ८९ ॥

प्रथम पाठ में-स्वपदरूप में णकार से नहीं किन्तु नकार से युक्त है इस 'त्रि' अक्षर स्वर व्यवहित रेफ को प्राप्त कर णकार हो जाता है "त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशौ" (यजु० १० । १४) प्रातिशाख्य में भी "ऋषरेभ्यो नकारो णकारं समानपदे-स्वरयवहकपैश्च" (यजु० प्रा० ३ । ८४-८५) ॥ ८९ ॥

प्रथमे नैव रङ्गेण नकारेण च संयुतम् ।
एतद् रञ्जितमासाद्य वृष्टिमाँ२॥ इव दर्शनम् ॥ ९० ॥

प्रथम पाठ में-पदरूप [सन्धि से पूर्व] अर्ध अनुस्वार से नहीं किन्तु नकार से युक्त है इस रञ्जित अर्ध अनुस्वार को प्राप्त करके 'रङ्गयुक्त' हो गया "वृष्टिमाँ ॥ इव" (यजु०७।४०) यहां 'वृष्टिमान्-इव' के नकार को "आकारोपधो यकारम्" (यजु० प्राति० ३ । १४३) से यकार हो जाता है पुनः "अनुनासिकमुपधा प्रागन्तस्थायाः" (यजु० प्राति० ३ । १३१) से अनुनासिक पर "यवयोः पदान्तयोः स्वरमध्ये लोपः" (यजु० प्राति० ४ । १२५) से यकार को लोप कर देने पर "वृष्टिमाँ॥ इव" प्रयोग बन जाता है ॥ ९० ॥

अथ प्रकीर्णानि ।



अथ सप्तविधाः संयोगपिण्डा अयः पिण्डो दारुपिण्ड ऊर्णापिण्डो ज्वालापिण्डोमृत्पिण्डो वायुपिण्डो वज्रपिण्डश्चेति ॥

अब सात प्रकार के संयुक्त व्यञ्जन अक्षरसमूह होते हैं जो कि अयः पिण्ड, दारुपिण्ड, ऊर्णापिण्ड, ज्वालापिण्ड, मृत्पिण्ड वायुपिण्ड, वज्रपिण्ड हैं ।

प्रत्येक के लक्षण—

**यमान् विद्यादयः पिण्डान् सान्तस्थान् दारुपिण्डान् ।
अन्तस्थ यमवर्जं तमूर्णापिण्डं विनिर्दिशेत् ॥ ६१ ॥**

यम—समान दो व्यञ्जन अक्षरों से संयुक्तों को अयः पिण्ड कहे जैसे "रुक्क्मः" (यजु० १२ । :) अन्तस्थ 'य, र, ल, व' से संयुक्तों को दारुपिण्ड कहे, जैसे "विलिम्ने" (यजु० १६ । ३५) तथा यम और अन्तस्थ को छोड़ कर अन्य संयुक्त व्यञ्जन को उर्णापिण्ड कहे, जैसे "पाशैस्त्मन्या" (यजु० २० । ३५) ॥ ६१ ॥

**अन्तस्थयमसंयोगे विशेषो नोपलभ्यते ।
अशरीरं यमं विद्यादन्तस्थं पिण्डनामकम् ॥ ६२ ॥**

अन्तस्थ और यम के संयोग में भेद नहीं मिलता, यम तो अशरीर है अन्तस्थ पिण्डनायक है । वह भी दारुपिण्ड है जैसे "सम्यक्" (यजु० १३ । ३८) ॥ ६२ ॥

ज्वालापिण्डान् सनासिक्यान् सानुस्वरांस्तु मृण्मयान् ।
सोपध्मानान् वायुपिण्डान् जिह्वामूले तु वज्रिणः ॥६३॥

नासिक्य के साथ हकार वाले पिण्ड ज्वालापिण्ड कहलाते हैं, जैसे "ब्रह्म" (यजु० १३ । ३) "वह्नितमम्" (यजु० १।८) पूर्ण अनुस्वार युक्त पिण्ड मृत्पिण्ड है, जैसे "यामैरयश्चन्द्र मसि" (यजु० १ । २८) तथा "लोकाँ॥अकल्पयन्" (यजु० ३१ । १३), उपध्मान अक्षर के साथ पिण्ड-वायुपिण्ड है, जैसे "द्यौष्पिता" (यजु० २।११) जिह्वामूल में उच्चारण करने से वज्रपिण्ड है जैसे "दिवः ककुत्" (यजु० ३।१२) ६३ ॥

[१] अयः पिण्डो यथा—अग्निः" (यजु० २३ । १७)

"पत्क्कनीः" (यजु०) "तनच्छिम" (यजु० १ । ४) "यक्क्ना" (यजु० ३६ । ८) इति ॥

दारुपिण्डो यथा—अश्वः" (यजु० २४ । १) सूर्य्यः" (यजु० ३ । ६) "विल्मिने" (यजु० १६ । ३५) "विश्व-जनस्य" (यजु० ५ । २८) "वीर्य्यम्" (यजु० १६ । ६) इति

ऊर्णापिण्डो यथा—"अश्म्मन्" (यजु० १७ । १) "कृष्णाः" (यजु० २ । १) अमुष्मिन्" (यजु० १७ । २) "आस्मिन्" (यजु० ३।१) "कुक्कुटः" (यजु० १ । १६) इति।

ज्वालापिण्डो यथा—"ब्रह्म" (यजु० १३ । ३) "वर्द्धितमम्" (यजु० १ । ८) "गृह्णामि" (यजु० ६ । २) इति ।

मृत्पिण्डो यथा—"ताꣳसवितुः" (यजु० १७ । ७४) "सꣳस्थाम्" (यजु० १६ । ८६) "लोकाꣳ॥ अकल्पयन्" (यजु० ३१ । १३) "यामैरयँश्चन्द्रमसि" (यजु० १।२८) इति ।

वायुपिण्डो यथा "देवं सवितः प्रसुव" (यजु० ६ । १) "द्यौष्पिता" (यजु० २ । ११) "याः फलिनीः" (यजु० १२ । २६) इति ।

वज्रपिण्डो यथा—ऋक्सामयोः" (यजु० ४ । ६) "इष्कृतिः" (यजु० १२ । ८३) "दिवः ककुत्" (यजु० ३ । १२) इति ।

एते ककारादयो मकारावसानाः कृष्णाः पञ्च विंशतिः स्पर्शाः व्याख्याताः शनैश्चरदेवत्याः । चत्वारोऽन्तस्था यरलवाः कपिलवर्णा आग्निदेवत्याः । चत्वार उष्माणः शषसहा अरुणवर्णा आदित्यदेवत्याः । एवं त्रयस्त्रिंशद् व्यञ्जनानीति ।

ये ककार से लेकर मकार पर्यन्त पच्चीस स्पर्श अक्षर कृष्ण रंग वाले है, शनैश्चर–देवता वाले हैं। चारों अन्तस्थ 'य, र, ल, व' कपिल रंग वाले अग्नि–देवता वाले हैं, चारों ऊष्मा "श, ष, स, ह" अरुण रंग वाले–आदित्य देवता वाले हैं। ये तेतीस व्यञ्जन हैं। इनके रंग देवता की कल्पना एक विनोद मात्र है ॥

चतुर्विधं करणं स्पृष्टमस्पृष्टं संवृतं विवृतं चेति ।
क–स्पृष्टाः स्पर्शाः । ख–अस्पृष्टा अन्ये ।
ग–संवृता घोषाः । घ–विवृता अघोषाः ।
ङ–विंशतिघोषास्ते गजडदबा घझढधभाङञ
णनमा–यरलवा हकारश्चेति । च–त्रयोदशाघोषास्ते
कचटतपाखघठथफाशषसाश्चेति ।। छ ।।

चार प्रकार का करण–उच्चारण में जिह्वा आदि अङ्ग का व्यापार-प्रयत्न जो स्पृष्ट–छूना, अस्पृष्ट–न छूना, संवृत–कण्ठादि को संकुचित रखना, विवृत–खोलना । स्पर्श वर्ण ककार से मकार पर्यन्त स्पृष्ट–छूकर बोले जाने वाले हैं । अन्य अस्पृष्ट–न छूकर बोले जाने वाले । घोष संवृत हैं अघोष विवृत हैं बीस घोष हैं ग, ज, ड, द, ब, घ, झ, ढ, ध, भ, ण, ङ, ञ, ण, न, म, य, र, ल, व, ह, । तेरह अघोष हैं क, च,, ट, त, प, ख, घ, ठ, थ, फ. श, ष, स ॥

दशधा वर्णा भवन्ति–औरसकण्ठ्यमूर्धन्यदन्त्योष्ठ्य-तालव्यदन्तमूलीयजिह्वामूलीय यमानुस्वाराश्चेति ।।ज।।

दश प्रकार के वर्ण होते हैं स्थान भेद से–औरस–उरःस्थल कण्ठ के नीचे छाती से उठाने योग्य, कण्ठ से बोले जाने वाले, मूर्धा से बोले जाने वाले, दन्तस्थानी, ओष्ठस्थानी, जिह्वामूल-स्थानी यम अनुस्वार ।।

तत्र द्वावौरसौ ह्व इति ह्म इति ।। झ ।।

उनमें दो औरस हैं ह्व अन्तस्थ से युक्त हकार, ह्म वर्ग पञ्चम से युक्त हकार ।।

त्रयः कण्ठ्या अ आ आ ३ इत्यवर्ण हकार विसर्जनीया इति ॥ ञ ॥

तीन कण्ठ से बोले जाने वाले हैं। एक अवर्ण-ह्रस्व दीर्घ प्लुत 'अ आ आ ३' दूसरा हकार 'ह', तीसरा विसर्जनीय (:) ॥

कण्ठमूर्धन्याः ट ठ ढ ण षा इति ॥ ट ॥

छः मूर्धा से बोले जाने वाले हैं ट ठ ड ढ ण और ष ॥

नव तालव्याः—इ ई ई ३—इतीवर्ण च छ ज झ ञ य शा एकारश्चेति ॥ ठ ॥

नौ तालु से बोले जाने वाले हैं—इवर्ण ह्रस्व दीर्घ प्लुत भेद 'इ, ई, ई ३', च, छ, ज, झ, ञ, य, श और एकार ॥

अष्टौ दन्त्याः ऌ, ॡ १, ॡ ३, ऌवर्ण, त थ द ध न लकार सकारा इति ॥ ड ॥

आठ अक्षर दन्त-दांत से बोले जाने वाले हैं ऌवर्ण ह्रस्व दीर्घ प्लुत (ॡ अन्यथा दिया है), ऌ, ॡ, १,ॡ, ३, त, थ, द, ध, न, ल स ॥

नव ओष्ठ्याः उ ऊ ऊ ३ इत्युवर्ण प फ ब भ भ वकारोपध्मानीया ओकारश्चेति ॥ ढ ॥

नौ ओष्ठ से बोले जाने वाले हैं। उवर्ण ह्रस्व दीर्घ प्लुतभेद से उ, ऊ, ऊ ३, प, फ, ब, भ, म, व उपध्मानीय ≍ प-≍ फ, और ओकार ॥

एको दन्तमूलीयो रेफः ॥ ढ ॥

एक अक्षर दांत के मूल से बोला जाने वाला है रेफ अर्थात् 'र' अक्षर ॥

सप्त जिह्वामूलीयाः–ऋ ॠ ॠ ३ इत्यृवर्णं ≍ क क ख- ग घ ङ इति ॥ त ॥

सात जिह्वा के मूल से बोले जाते हैं ऋवर्ण ह्रस्व दीर्घ प्लुत भेद से ऋ, ॠ, ॠ ३, ≍ क, क, ख, ग, घ, ङ, ॥

चत्वारो यमाः–कुँ खुँ गुँ घुँ इति ॥ छ ॥

चार यम हैं कुँ खुँ गुँ घुँ। चार वर्गों के प्रत्येक वर्ग के चार चार अक्षर यम ँ इस अनुनासिक चिह्न से युक्त सस्वर व्यञ्जन ॥

रुक्क्मेति प्रथमो ज्ञेयः सक्थ्ना इत्यपरो भवेत् ।
विद्ग्मा ते तु तृतीयश्च जम्भे दद्ध्मश्चतुर्थकः ॥ ६३ ॥

प्रथम यम "रुक्क्मः" (यजु० १२ । १) द्वितीय यम "सक्थ्थ्ना" (यजु० २३ । २६) तृतीय यम "विद्ग्मा ते" (यजु० १२ । १६) चतुर्थ यम "जम्भे दध्ध्मः" (यजु० १६ । ६४) यहां पांचों वर्गों में से पवर्ग को छोड़कर चारों वर्गों के प्रथम द्वितीय तृतोय चतुर्थ अक्षरों के युगल का नाम यम है ऐसा उदाहरणों से स्पष्ट होता है ॥ ६३ ॥

अपञ्चमैश्चैकपदे संयुक्तं पञ्चमाक्षरम् ।
उत्पद्यते यमस्तत्र सोऽङ्गं पूर्वाक्षरस्य हि ॥ ६४ ॥

वर्गों का पञ्चम अक्षर वर्गों के अपञ्चम अर्थात् प्रथम द्वितीय तृतीय चतुर्थ अक्षर के साथ एक पद–समानपद में संयुक्त हो तो यम हो जाता है वह पूर्व स्वर 'अच्' का अङ्ग बन जाता है पूर्व स्वर के साथ बोला जाता है, ऐसा ही यजुर्वेदीय प्रातिशाख्य में कहा है "अन्तः पदेऽपञ्चमः पञ्चमेषु विच्छेदः" (यजु० प्रा० ४।१६१) ॥ ६४ ॥

पञ्चमाः शषसैर्युक्ता अन्तस्थैर्वापि संयुताः ।
यमास्तत्र निवर्तन्ते श्मशानादिव बान्धवाः ॥ ६५ ॥

वर्गों के पञ्चम अक्षर 'श, ष, स' के साथ या 'य, र, ल, व' के साथ संयुक्त हों तो तब वे यम संज्ञा से निवृत्त होजाते हैं, जैसे श्मशान से शवदाह करके बान्धव जन निवृत्त होजाते हैं "ऊष्मभ्यः पञ्चमेषु यमापत्तिर्दोषः" (यजु० प्रा० ४। १६२) वे ऊर्णापिण्ड या दारुपिण्ड जैसे उच्चरित होते हैं पूर्वस्वर के उच्चारण के साथ रुक कर नहीं बोले जाते हैं, जैसे "आस्मिन्मन्" (यजु० ३। १) तथा "विलिम्मन" (यजु० १६।३५) ॥ ६५ ॥

(क) आद्या मात्रा······(वर्णाधिकार श्लोक २० व्याख्यात)

(ख) यादृशी ·· ॥
(ग) लाक्षारक्तं··· ॥
(घ) लुप्ते नकारे··· ।
— ये तीनों श्लोक रङ्गाधिकार में श्लोक ७५, ७६, ७७ आगए वहां व्याख्यात हैं ।

(ङ) प्रथमस्थषकारेण हकारेण च संयुतम् ।
(च) प्रथमस्थषकारेण थकारेण ।
— त्रैष्टुभेति पदाधिकार में श्लोक ७७, ८८ में पाठ भेद से स्वरस्थान में ।

ये श्लोक यहां दिए गए हैं जो पुनरावृत्त हैं, इनका पूरा पाठ और अर्थ पूर्व आचुका है। परिचय के सङ्केत साथ देदिए हैं वहा देखें॥

चतुर्थश्च तृतीयेन द्वितीयं प्रथमेन च।
आद्यं मध्यं तथान्त्यञ्च स्वरूपेणाभिपीडितम् ॥६६॥

संयोग में वर्ग का चतुर्थ वर्ण तृतीय से, वर्ग का द्वितीय वर्ण प्रथम वर्ण से अभिपीडित–द्विरुक्त करे, तथैव यजुर्वेदीय प्रातिशाख्य में भी कहा है "प्रथमद्वितीयास्तृतीयास्तृतीयैश्चतुर्थाः" (यजु० प्रा० ४। १०८) वर्गों के प्रथम तृतीय पञ्चम अपने रूप में दो दो उच्चारण में र हैं जैसे "सुम्यक्स्स्रवन्ति" (यजु० १३। ३८) यहां दो ककार सकार रेफ का संयोग है, यहां पूर्व ककार द्विरुक्त है। "विक्ख्याय" (यजु० ११। २०) यहां ककार खकार यकार का संयोग ककार खकार के रूप में द्विरुक्त है। "अग्ग्निः" (यजु० ३। ६) यहां दो गकार नकार का संयोग है; यहां पूर्व गकार द्विरुक्ति का है। "आजिग्घ्र" (यजु० ८। ४२) यहां घकार रेफ का संयोग है घकार गकार के रूप में द्विरुक्त है। "युङ्ङ्क्ष्सि" (यजु० १०। २५) यहां दो ङकारों का संयोग है पूर्व ङकार द्विरुक्तिज है॥ ६६॥

(क) अवग्रह······॥
(ख) स्वरसन्धि······॥
(ग) उदात्तान्निहित······॥
(घ) पदकाले······॥

इन श्लोकों का पाठ और व्याख्या पूर्व आचुकी, यहां अप्रासङ्गिक हैं इनके पाठ और व्याख्या (क, ख) वर्ण प्रकरण श्लोक २६, २७। (ग, घ,) स्वरप्रकरण श्लोक ८७,८८)।

प्रथमाश्च तृतीयाः स्युः परे घोषवति स्थिते ।
पञ्चमा पञ्चमे पाठे द्वितीयाः शषसेषु च ॥ ९७ ॥

वर्गों के प्रथम वर्ण तृतीय हो जावें घोष वाले अक्षर परे होने पर और वे ही वर्गों के प्रथम वर्ण पञ्चम वर्ण हो जावें पञ्चम वर्ण पर होने पर पाठ-मन्त्रपाठ-सन्धि में, जैसे घोषवान् परे होने पर 'यत्-ग्रामे'-"यद्द्ग्रामे" (यजु० ३ । ४५) यहां दो दकार गकार रेफ का संयोग है। तथा 'उत्-एनम्'-"उदेंनम्" (यजु० १७ । ५०)। पञ्चम अक्षर परे होने पर "पञ्चमे पञ्चमम्" (यजु० प्राति० ४ । १२१) जैसे वाक्-मात्या' "वाङ्ङ्मात्या" (यजु० १३ । ५८) 'श, ष, स' के परे होने पर 'अनुष्टुभ्-शारदी'-"ऽयनुष्टुप्फ्शारद्य" (यजु० १३ । ५७) "अस्थाने मुदि द्वितीयं शौनकस्य" (यजु० प्राति० ४ । १२०) माध्यन्दिनों के मत में तो प्रथम ही द्विरुक्त होगा "जिति प्रथमम्" (यजु० प्राति० ४ । ११९)

अथाध्येतृ धर्माः ॥

पढ़ने वालों के धर्म—

उपांशु त्वरितं चैव योऽधीते वित्रसन्नपि ।
अपरूप सहस्राणां सन्देहे स प्रवर्तते ॥ ९८ ॥

जो उपांशु-मुंह-मुंह में बोलता है, शीघ्र बोलता, है डरता हुआ पढ़ता है, वह सन्देह में सहस्र अपपाठ करने में प्रवृत्त हो जाता है ॥ ९८ ॥

पञ्च विद्यां न गृह्णन्ति चण्डास्तब्धाश्च ये नराः ।
अलसा रोगिणश्चैव येषां च विस्मृतं मनः ॥ ९९ ॥

पांच मनुष्य विद्या को ग्रहण नहीं करते हैं नहीं कर सकते हैं जो कि चण्ड-क्रूर स्वभाव वाले-जो अध्यापक के प्रति द्रोह कर बैठते हैं, पढ़ने में जड या ढीट हठी, अलस-आलस्य स्वभाववाले, रोगी-स्थायी रोगी और जिनका मन विगत-स्मरण-स्मरण न कर सके या स्मरण किए को भुलादे ॥ ९९ ॥

अहेरिव गणाद् भीतः सम्मानान्नरकादिव ।
राक्षीभ्य इव स्त्रीभ्यः स विद्यामधिगच्छति ॥ १०० ॥

समूह से-समूह में रहने से सर्प के समान भय को प्राप्त समूह में रहने से पढाई नहीं होती है, नरक-नीच स्थान पाप या दुःख स्थान से जैसे डरे ऐसे सम्मान से भय को प्राप्त, राक्षसियों के समान स्त्रियों से डरा हुआ उनमें आसक्त हो जाने से विद्याव्यसन छूट जाता है, अतः समूह, सम्मान, स्त्री प्रसङ्ग से बचा हुआ विद्या को प्राप्त करता है ॥ १०० ॥

न भोजन विलम्बी स्यान्न नारी निबन्धनः ।
सुदूरमपि विद्यार्थं व्रजेद्गरुड हंसवत् ॥ १०१ ॥

भोजन देर में करने वाला न हो किन्तु यथा समय भोजी हो, स्त्रियों के अधीन या स्त्रियों के साथ विशेष रूप से व्यवहार

करने वाला न हो, विद्याप्राप्ति के अर्थ बहुत दूर तक भी जावे गरूड और हंस की भांति ॥ १०१ ॥

सुखार्थी चेत् त्यजेद् विद्यां विद्यार्थी चेत् त्यजेत् सुखम् ।
सुखिनस्तु कुतो विद्या विद्यार्थिनि कुतः सुखम् ॥ १०२ ॥

यदि मनुष्य सुखार्थी है-सुख से प्रेम करता है तो विद्या पढ़ने को छोड देना चाहिए, कारण कि सुख के इच्छुकों को-सुख से प्रेम करने वालों को कहां विद्या आवे और विद्यार्थी के निमित्त कहां सुख है ॥ १०२ ॥

गुणिता शतशो विद्या सहस्रावर्तिता पुनः ।
आगमिष्यति जिह्वाग्रे स्थलान्निम्नमिवोदकम् ॥ १०३ ॥

विद्या सौ वार समझी हुई और सहस्र वार आवृत्ति पाठ करी हुई जिह्वाग्र पर ऐसे आजाती है जैसे समस्थल से नीचे स्थल पर जल आजाता है ॥ १०३ ॥

शतेन गुणिताऽऽयाति सहस्रेण च तिष्ठति ।
शतानां च सहस्रेण प्रेत्य चेह च तिष्ठति ॥ १०४ ॥

विद्या सौ वार समझने से आजाती है और सहस्र वार आवृत्ति करने से मन में ठहर जाती है, लक्ष वार आवृत्ति से तो इस लोक में मरने पर भी ठहर जाती है ॥ १०४ ॥

जलमभ्यासयोगेन शैलानां कुरुते क्षयम् ।
कर्कशानां मृदुस्पर्शं किमभ्यासान्नसाध्यते ॥ १०५ ॥

जल अभ्यास से पुनः पुनः बहने या गिरने से पर्वतों का भी क्षय-ह्रास कर देता है कठोर खुरदरी वस्तु को भी चिकने स्पर्श वाली बना देते हैं धीरे धीरे घिसने के अभ्यास से, अतः अभ्यास से क्या नहीं साधा जाता है ॥ १०५ ॥

यथा पिपीलिकाभिश्च क्रियते पांसुसञ्चयम् ।
न चात्र बलसामर्थ्यमुद्यमस्तत्र कारणम् ॥ १०६ ॥

जैसे चीएिटयों द्वारा धूलि का ढेर धीरे धीरे कर दिया जाता है इस में बल या सामर्थ्य अपेक्षित नहीं किन्तु उद्यम कारण है ॥ १०६ ॥

अञ्जनस्य क्षयं दृष्ट्वा बल्मीकस्य तु सञ्चयम् ।
अबन्ध्यं दिवसं कुर्याद् दानाध्ययनकर्मसु ॥ १०७ ॥

अञ्जन-सुरमे का प्रति दिन थोड़ा २ आंखों में लगाने-अभ्यास से शीशी भर सुरमे के क्षय-समाप्ति को देख कर थोडी थोडी विद्या प्रति-दिन ग्रहण करने से जडता का नाश होजाता है तथा बल्मीक-बामी का ढेर भी थोड़ा थोडा प्रतिदिन बढ़ने से पूरा बड़ा ढेर हो जाता है ऐसा देख कर मनुष्य अपने दिवस को दान, अध्ययन, सन्ध्योपासन आदि शुभकर्मों के आचरण से सफल बनावे ॥ १०७ ॥

हयानामिव जात्यानामर्धरात्रार्धशायिनाम् ।
न हि विद्यार्थिनां निद्रा चिरं नेत्रेषु तिष्ठति ॥ १०८ ॥

अर्धरात्रि के अर्धरात्रिमात्र सोने वाले उत्तम जाति वाले घोड़े की भांति विद्यार्थियों की आंखों में निद्रा देर तक नहीं ठहरती है ॥ १०८ ॥

अन्नव्यञ्जनयोर्भागौ तृतीयमुदकस्य च ।
वायोः सञ्चरणार्थाय चतुर्थमुपकल्पयेत् ॥ १०६ ॥

जितनी भूख हो उसके या उदर-पेट के दो भाग को तो अन्न और व्यञ्जन-दाल शाक के लिये बनाले या पूरले भरले तृतीय भाग जलका-जल के लिये रखे· चतुर्थ, भाग वायु के सञ्चारार्थ बनावे या रखे ॥ १०६ ॥

यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति ।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥ ११० ॥

जैसा कुँवा खोदने वाला कुँवाँ कुदाल से खोदता हुआ जल को प्राप्त करता है वैसे ही गुरुगत-गुरु के अन्दर की विद्या को सेवापरायण अध्ययन करता हुआ विद्या को प्राप्त करता है ॥ ११० ॥

शुश्रूषारहिता विद्या अपि मेधागुणैर्युता ।
वन्ध्येव युवती तस्य न विद्या फलिनी भवेत् ॥ १११ ॥

गुरु की सेवा से रहित विद्या बुद्धि गुणों के साथ भी बांझ अपुत्रवती युवती स्त्री की भांति उसके लिये अफली-अभ्युदय कल्याण रहित होती है ॥ १११ ॥

गुरुशुश्रूषया विद्या पुष्कलेन धनेन वा ।
अथवा विद्यया विद्या चतुर्थं नोपलभ्यते ॥ ११२ ॥

गुरु की सेवा से विद्या प्राप्त होती है या बहुत धन देने से अथवा विद्या से अपनी अन्य विद्या सिखाने से अन्य की विद्या

प्राप्त की जाती है और चतुर्थ साधन विद्या प्राप्ति में नहीं है॥ ११२॥

बह्वीर्जिह्वा यथा गृह्णात्यह्वा वह्निस्तथैव ।
ब्रह्मरूपं विजानीयाद् गुरुमेवात्मनः सदा ॥ ११३ ॥

जैसे अग्नि बहुत ज्वालाओं को झट ग्रहण करता है वस्तु को भस्म करने के लिए, वैसे अपने गुरु को सादर ब्रह्मरूप जाने-ब्रह्माग्नि जाने जो कुपित होकर भस्म कर दे॥ ११३॥

यत् किञ्चिद् वाङ्मयं लोके सर्वमत्र प्रतिष्ठितम् ।
करोति तत्प्रदानं यत् तस्माद् ब्रह्ममयो गुरुः ॥ ११४ ॥

जो कुछ भी वाङ्मय-वाग्विषय-ज्ञानविषय-ब्रह्म वेद संसार में है वह सब ज्ञान विषय यहां गुरु में रहता है, उसका प्रदान शिष्य के लिए गुरु करता है, अतः गुरु ब्रह्ममय-ब्रह्मरूप वेदस्वरूप है ॥ ११४॥

विधिनाऽप्यविधिज्ञानमविधान्न लभ्यते ।
अविधानपरो नित्यं प्रायश्चित्तीयते ततः ॥ ११५ ॥

विधि-भाग्य अच्छा होने पर भी अविधि ज्ञान-विधिपूर्वक गुरु सेवा आदि से रहित ज्ञान सत्य फल को नहीं प्राप्त होता है, अविधान-शास्त्र का विधान न होने से। शास्त्र का विधान गुरु सेवा करना है, अविधान परायण-गुरु सेवा रूप विधान का उल्लङ्घनशील जन नित्यसदा प्रायश्चित्त भागी होता है ॥ ११५॥

युक्तियुक्तं वचो ग्राह्यं न ग्राह्यं गुरुगौरवात् ।
सर्वशास्त्ररहस्यं तद् याज्ञवल्क्येन भाषितम् ॥ ११६ ॥

गुरु का युक्ति युक्त वचन ग्रहण करना चाहिए, गुरु के गौरव-गुरु होने के कारण सब कुछ ग्रहण न करे, यह सब शास्त्रों का रहस्य याज्ञवल्क्य ने भाषित कर दिया कह दिया है[1] ॥ ११६ ॥

इति

---

१ याज्ञवल्क्य के भाषणकथनों का सङ्कलन यह ग्रन्थ ने किया है ऐसा लक्षित होता है साक्षात् या स्वयं याज्ञवल्क्य ने ग्रन्थ नहीं रचा है अतः कोई अवैदिक कल्पना अयाज्ञवल्क्य नहीं समझनी चाहिए ।

विशिष्ट अशुद्धियों का शोधनपत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	पं०
उच्चो	उच्चौ	२	१४
ङ्गलि	ङ्गुलि	१७	४
ऋजुंरूप	ऋजुरूप	१८	४
रंफ	रेफ	१९	१५
झाटति	झटिति	१९	२५
र्स्र	र्स	२१	३
भ्रप्रान्त	भ्रूप्रान्त	२१	८
दक्षिण	वाम	२१	१०
वाम	दक्षिण	२१	१०
भ्र	भ्रू	२२	२
हो	दो	२२	१५
नयेत्	नमेत्	२४	६
–प्रचय	प्रचय	२५	१०
सुमिधः	समिधः	२८	२३
...... चीत	...... चत	२९	२
भी हो तो	भी	२९	६
हाहिर	बाहिर	२९	२०
दवो	देवो	३०	७
युष्मत	युष्मत्	३०	१४
२३)	४३)	३५	९
...... दानु	...... वानु	३५	१८
शने	द वा शने	४४	४
द वा ऽश्राभ	ऽश्रभि	४४	४
...... जोयत	...... जायत	४४	५
न्यः	कनि न्यः	४५	७
कृतः	तर्जनी कृतः	४५	७
रजायत	रंजायत	४५	१०
...... श.	कनि ...... शः	४६	२

अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	पं०
	तर्जं		
द्धविः	द्धविः	४६	४
ऽर्वघ्नन्	ऽअर्वघ्नन्	४६	६
कण्ठ्य	कण्ठ्य	५०	१२
गाणस्य	गणस्य	५५	५
निवृत्तीनां	विवृत्तीनां	५७	२१
सन्धौ हु	सन्धौ तु	६४	८
प्रतिशाख्य	प्रातिशाख्य	६४	२२
मैकीभावः	मेकीभावः	६५	१
प्राङ्कसोम	प्राङ्क्सोम	७१	११
परे हो	परे	७१	२०
गुरुसंज्ञछ	गुरुसंज्ञक	७३	१६
लोढा	लीढा	७६	१
व्वोढव	व्वोढ्व	७७	१
पकार	यकार	८१	१६
दानां	दानीं	८१	२४
ड्डे	ड्डु	८२	१८
रुप	रूप	८५	१६
वर्णा वर्ण	वर्ण	८६	११
सङ्कच्य	सङ्कुच्य	८७	६
रङ्गाः	रङ्गः	८७	१६
समाक्रितः	समाश्रितः	८८	१
छप जाने से	रूप जाने	८६	८
सँव्वपमि	सँव्वपामि	८६	१३
अही ँच	अही ँश्च	८६	१५
नासिका	नासिका से	८६	१६
कुसुम्	कुसुम	६०	७
ह्यनुस्वार	ह्यनुस्वारो	६२	१०
इनका	इनका नाम	६३	२२
प्रतिशा —	प्रातिशा —	६४	२,४
— वऽमहे —	— वामहे	६४	३
ँ इस	ँइस	६४	५
द्रतां	द्रुतां	६६	१७
— ग्लेप —	— ग्लेप —	६६	१६
— मस्मृतं	— ममृतं	६८	१२
गृहणामि	गृहणामि	१०३	२
मेंर	में	१०८	१०
राचीभ्यः	राक्षसीभ्यः	११०	१२
— अपाज्ञव —	याज्ञव	११५	१०

वैदिक यन्त्रालय अजमेर
में मुद्रित

निरुक्तसम्मर्श:

"स्वामी ब्रह्ममुनि द्वारा रचित निरुक्त के संस्कृत भाष्य में कठिन से कठिन स्थलों को अत्यन्त सुगम ढंग से समझाया है, छात्रों और अध्यापकों दोनों के लिये समान लाभदायक है"

(पं० प्रियव्रतजी आचार्य गुरुकुल कांगड़ी)

"इस भाष्य को पढ़कर विचारशील विद्वानों को आश्चर्य-मिश्रित हर्ष होगा, निरुक्त सम्बन्धी अनेक भ्रान्तियों का निराकरण हो जायेगा" (पं० धर्मदेवजी विद्यामार्तण्ड)

"इस भाष्य में अन्य भाष्यकारों द्वारा उपेक्षित स्थलों को स्पष्ट करने पर विशेष ध्यान दिया है, भाष्य ऊहापोह से और खोज से पूर्ण है" (डाक्टर मङ्गलदेवजी शास्त्री डी० फिल्, भूतपूर्व प्राचार्य संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी)।

आकार लम्बा, सवस्त्र पक्की जिल्द, पृष्ठ ६६८, मूल्य लागतमात्र १५)

पुस्तक मिलने का पता—
आर्यसाहित्यमण्डल, अजमेर